जनवरी 2008

अंक-2
(आस-पास विशेषांक-1)

निकट

सम-सामयिक साहित्य की अर्धवार्षिकी

प्रमुख संपादक
अशोक कुमार

संपादक
कृष्ण बिहारी

सह-संपादिका
कांता भाटिया

- इस अंक के विशिष्ट कहानीकार राजेन्द्र यादव

- रजनी गुप्त के नए उपन्यास का अंश
- मिथिलेश्वर की आत्मकथा का एक हिस्सा
- राजेन्द्र राव, संजीव, मुशर्रफ आलम जौकी, जया जादवानी और हरि भटनागर की कहानियां

- लम्बी कहानी - दयानंद पाण्डेय

- विनोद श्रीवास्तव और शिवकुमार अर्चन के गीत
- नूर मुहम्मद 'नूर' और आचार्य सारथी की ग़ज़लें

- केशव शरण और शीतांश की कविताएं
  नई क़लम-प्रचेता बुधवार, नारायण सावलानी की कविता

- चार किताबों पर अमरीक सिंह दीप की समीक्षाएं
  कितना बदला है सिनेमा, यह बता रही हैं गीताश्री

'निकट'

अंक-2, जनवरी-2008

प्रमुख संपादक : **अशोक कुमार**
संपादक : **कृष्ण बिहारी**
सह संपादिका : **श्रीमती कांता भाटिया**
मास्को ब्यूरो प्रमुख : **अनिल जन विजय**
गल्फ ब्यूरो प्रमुख : **सरस्वती राजशेखरन**
लंदन ब्यूरो प्रमुख : **तेजेन्द्र शर्मा**

संपादकीय कार्यालय :
P. O. Box No. 52088
Abudhabi, UAE
Mobile-00971505429756
email : krishnatbihari@yahoo.com

आवरण : नोवा पब्लिकेशन्ज़

प्रकाशक : कपतान इंटरनेशनल

ले-आउट और सज्जा: नोवा पब्लिकेशन्ज़

कानूनी सलाहकार **श्री राजेश तिवारी**, एडवोकेट 2/241, विजयखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत।

नोट

*'**निकट**' में प्रकाशित रचनाओं से सहमत होना, हमारी सहमति नहीं है।*
किसी भी विवाद का निपटारा लखनऊ हाइकोर्ट में ही होगा।

'निकट'

आस-पास विशेषांक-1

		पृष्ठ संख्या
प्रमुख संपादक की कलम से	**- अशोक कुमार**	4
संपादकीय - समय से बात	**- कृष्ण बिहारी**	5
आपकी बात, आपके पत्र		11
◆ उपन्यास अंश		
सर्जना का साथ	**- रजनी गुप्त**	13
◆ आत्मकथा अंश		
दिल्ली की मेरी पहली साहित्यिक यात्रा	**- मिथिलेश्वर**	24
◆ इस अंक के विशिष्ट कहानीकार		
राजेन्द्र यादव (कहानी - संबंध)		30
◆ कहानियां		
यशोधरा ही ठीक है !	**- राजेन्द्र राव**	34
डेढ़ सौ सालों की तनहाई	**- संजीव**	41
सज़ा-ए-मुहब्बत	**- मुशर्रफ आलम ज़ौकी**	48
एण्टी पॉर्टिकल	**- जया जादवानी**	57
माई	**- हरि भटनागर**	61
मन्ना जल्दी आना ! (लम्बी कहानी)	**- दयानंद पाण्डेय**	64
◆ गीत		
विनोद श्रीवास्तव और शिवकुमार अर्चन के गीत		79
◆ गज़लें		
नूर मुहम्मद 'नूर' और आचार्य सारथी की गज़लें		83
◆ कविताएं		
केशव शरण और अरूण शीतांश की कविताएं		86
नई क़लम - प्रचेता बुधवार		88
नारायण सावलानी की कविता		89
◆ समीक्षाएं		
चार किताबों पर अमरीक सिंह दीप की समीक्षाएं		90
कितना बदला है सिनेमा	**- गीताश्री**	96

'निकट' का अगला अंक

प्रमुख संपादक की कलम से...

यह **'निकट'** का दूसरा अंक है। हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तान के बाहर 'निकट' चर्चा में है। खाड़ी से निकलने वाली यह पहली हिन्दी की साहित्यिक पत्रिका है जिसने अपने पहले अंक से ही साहित्यिक जगत में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। कई समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में 'निकट' पर चर्चा और उसका उल्लेख हुआ है। इण्टरनेट पर उपस्थित प्रायः सभी पत्रिकाओं ने 'निकट' पर विस्तृत चर्चा की है। हमारे लिए यह खुश हो सकने की वजह हो सकती है। लेकिन यही काफी नहीं है। हम 'निकट' को उस पाठक तक पहुँचाना चाहते हैं जिसे पठनीय साहित्य उपलब्ध नहीं है। अधिकांश पत्रिकाएँ या तो उन दुर्वह और बोझिल लेखों से आधी भरी हुई हैं जो हर तरह से अपठनीय हैं या इतनी हलकी सामग्री से लबरेज़ हैं जो साहित्य की किसी कोटि में नहीं आती। मैं नहीं कहता कि शोधपरक लेखों की आवश्यकता नहीं है। लेकिन ऐसे लेख अलग तरह की पत्रिकाओं में छपने चाहिए। उनके पाठक अलग होते हैं। कथा-साहित्य और कविता की पत्रिकाओं में ऐसे लेख भरती के लगते हैं। 'निकट' ऐसी किसी प्रथा से न केवल दूर रहना चाहता है बल्कि एक ऐसी स्थिति विकसित करना चाहता है जिससे साहित्य के विशुद्ध पाठक जुड़े और रचनाएं पढ़ी जाएं।

आज हिन्दी साहित्य का जो परिदृश्य सामने है उसमें आए दिन कई पत्रिकाएँ दिख रही हैं। उनमें जो कुछ छप रहा है वह कितने पाठकों की स्मृति में बस रहा है ? रचना यदि पढ़ने के बाद पाठक के मस्तिष्क के किसी कोने में जगह न बना सके तो उसकी उपयोगिता क्या है ? लिखने के लिए लिखना कोई उपलब्धि नहीं है। लिखा हुआ बचा रहे तो उसका महत्त्व है।

'निकट' ने नए रचनाकारों को प्रोत्साहित करने का बीड़ा भी उठाया है। लेकिन 'निकट' में उन्हीं रचनाकारों को नया समझा जाएगा जो सचमुच नए हैं। कुछ पत्रिकाओं में 'नयी पीढ़ी' के नाम पर बार-बार दिखाई पड़ने वाले 35-40-45 वर्षीय रचनाकार 'निकट' के लिए न तो 'नए' होंगे और न 'युवा'। ये भ्रामक शब्द पाठकों को गुमराह करते हैं। हम 50 वर्षीय या उससे भी अधिक उम्र के रचनाकार की रचना को भी उत्साह से प्रकाशित करेंगे, यदि वह सचमुच नया रचनाकार है। इस अंक से हम ऐसा कर रहे हैं और 'निकट' के हर अंक में एक या दो नए रचनाकार अपनी मौजूदगी दिखाएंगे।

'निकट' का प्रवेशांक 'प्रवासी' रचनाकारों पर केन्द्रित था। यह अंक भी 'आस-पास विशेषांक-1' है जिसमें हिन्दुस्तान के रचनाकारों को जगह मिली है। अगला अंक भी 'आस-पास विशेषांक-2' होगा जिसमें अपने आस-पास के देशों के रचनाकारों की प्रतिनिधि रचनाएं होंगी। ये रचनाएं दस वर्षों की उस कालावधि को चित्रित करती होंगी जिसने ज़माने को बदल दिया है।

मैं कृष्ण बिहारी और श्रीमती कांता भाटिया की कोशिशों के प्रति आभारी हूं।

आशा है कि आपको पत्रिका का बदलता रूप अपने हर अंक के साथ और निकट लागा।

अशोक कुमार
सितम्बर 10, 2007

सम्पादकीय समय से बात-2...

'निकट' का दूसरा अंक आपके सामने है। अपने नए गेट-अप में। असल में प्रवेशांक का प्रूफ़ देखने और पत्रिका के लोकार्पण में मुझे मात्र 72 घण्टे का समय मिला था। उस अल्पावधि में जितना कुछ मैं कर सकता था, वही कर सका। श्रीमती कांता भाटिया और उनके साथ काम करने वाली दो-तीन अध्यापिकाओं ने प्रूफ़ देखने में मदद की। मैं उनका आभारी हूं। अबू धाबी में रहते हुए जालंधर से छपने वाली पत्रिका के साथ सेकेण्ड-दर-सेकेण्ड जुड़े रहना आसान नहीं था। इसके बावजूद मैंने उम्मीद नहीं छोड़ी थी। पत्रिका निकली और समय पर भारतीय राजदूत महामहिम सी.एम. भंडारी और 'हंस' पत्रिका के सम्पादक श्री राजेन्द्र यादव के हाथों उसका लोकार्पण हुआ। इसके लिए प्रमुख संपादक अशोक कुमार बधाई के पात्र हैं। जो फीडबैक मुझे मिला, उत्साहवर्धक रहा है। हिन्दुस्तान से कई सम्पादकों ने मुझे फोन, ई-मेल और पत्रों के ज़रिए अपनी पत्रिकाएं दीं। लेखकों, लेखिकाओं और पाठक-वर्ग ने भी अपनी राय दी है। जिन लोगों तक पत्रिका पहुंच सकी, प्रायः उन सबने पत्रिका को 'हैण्डी' बनाने और रचनाओं के लिए चित्रांकन बदलने या फिर न कराने की सलाह दी है। पत्रिका के कण्टेण्ट, काग़ज़ और कवर को देख-पढ़कर लोगों ने बेहोश हो जाने तक की बात कही है। मैं समझ सकता हूं कि एक किलो की पत्रिका को हाथ में लेकर पढ़ना थक जाने जैसा है फिर भी अनेक लोगों ने मेरा उत्साह भी बढ़ाया है। श्री विष्णु प्रभाकर ने लिखा है, "पत्रिका का बहिरंग और अंतरंग बहुत सुन्दर है।" सर्वश्री योगेन्द्र मोहन, डॉ. जयनारायन, राजेन्द्र यादव, विभूतिनारायन राय, राजेन्द्र राव, मिथिलेश्वर, संजीव, दयानंद पाण्डेय, अंबिका सिंह वर्मा, अमरीक सिंह दीप, गीतकार विनोद श्रीवास्तव, संतोष दीक्षित, अरुण प्रकाश, हरि भटनागर तथा बहुत से रचनाकारों और पाठकों ने 'निकट' के सुखद भविष्य की कामना की है। दयानंद पाण्डेय ने फोन पर बताया कि लखनऊ में पत्रिका के भव्य रूप को देखकर सुशील सिद्धार्थ ने कहा, "भाई साहब, यह तो बेहोश होने की स्थिति है।" मैं जानता हूं कि मेरे हितैषियों ने यह बात केवल मेरा मन रखने के लिए नहीं कही है। **अशोक कुमार, कांता भाटिया और मेरे सम्मिलित प्रयास की सार्थकता तो तब होगी जब पत्रिका अपनी कमियों को दूर करते हुए आगे बढ़े।** 'निकट' सबके निकट हो जाए इससे बड़े प्राप्य की कामना हम क्या करें ? मैं उन सबके पत्र इस अंक में प्रकाशित कर रहा हूं जिन्होंने हमें और 'निकट' को अपना समझा है साथ ही अपनी सकारात्मक आलोचना भी लिखी है।

आज 22 जून, 2007 को जब मैं दूसरे अंक का सम्पादकीय लिख रहा हूं तो जहां अपने वायदों को पूरा करने की कोशिश में एक कदम आगे बढ़ा हूं वहीं बुरी तरह से टूट गया हूं। कांता भाटिया के पति की 18 जून को अकस्मात् हृदयगति रुकने से असामयिक मृत्यु हो गई। मेरा एक बाजू ही उखड़ गया है। पिछले बाईस साल से कांता भाटिया से पारिवारिक रिश्ते हैं। फोन से बात होती रही है। अकेले और पारिवारिक स्तर पर न जाने कितनी बार मिलना होता रहा है। इधर एक साल से तो आलम यह था कि कब मिलना हो जाए कुछ पहले से तय नहीं होता था। बस कुछ घण्टों की सूचना पर हम मिल लेते थे। जबकि हम दोनों के निवास अलग-

अलग अमीरात में हैं और दूरी 150 किलोमीटर है। एक बार भी तो कांता भाटिया ने सुरेश की तबीयत ख़राब होने का ज़िक्र नहीं किया कि कभी मन में कोई शंका तक जन्म ले। परसों जब उन्हें फोन किया और उधर से केवल भरे गले की घरघराहट सुनाई दी तो मैंने पूछा, "गला ख़राब है क्या ?"

"मेरा सुरेश गया त्रिपाठी...../" उनकी हिचकी बंध गई। मैं स्तब्ध। फोन उधर से ही कट गया। अशोक कुमार को फोन किया तो बोले, "मैं अपनी कुरसी से उठ नहीं पा रहा हूं ... मेरे लिए यह कुछ न कर पाने की स्थिति है...." अशोक कुमार सदमे में थे। मैं भी। पता नहीं, यह सबके साथ होता है या नहीं किन्तु मेरे साथ ऐसा है कि मैं किसी अपने की पीड़ा नहीं झेल पाता। सुरेश की मिलनसारिता पर मैं अलग से कभी लिखूंगा। यहां तो बस इतना ही उससे कहूंगा कि बहुत बड़ी नाइंसाफी की तुमने कांता के साथ? कमल और कविता के साथ? मैं तुम्हें माफ़ नहीं कर सकता सुरेश?

निठारी केस हो चुका है। मुलायम सिंह चुनाव हार चुके हैं। इस केस के समय वे मुख्यमंत्री थे। उनके विधायक भाई ने इस केस पर एक टी.वी. चैनेल को बयान दिया कि ऐसी घटनाएं तो होती रहती हैं। उनसे कौन पूछे कि क्या उनके घर की किसी बच्ची के साथ बलात्कार हुआ है ? अगर हुआ है तो उसे जानकर उन्हें कितनी खुशी हुई है ? कि उस कुत्सित घटना पर उन्होंने कितने किलो मिठाई बांटी ? और, ऐसी घटना पर वे कितना सामान्य रह सके हैं कि कहें कि ऐसा तो होता ही रहता है। शायद उन्हें मालूम नहीं है कि बलात्कारी हमेशा बाहर के ही नहीं होते, प्रायः घर के होते हैं। पकड़े वही जाते हैं जो बाहर के होते हैं। घर की इज्जत तो घर में ही रहनी चाहिए न? बच्चों के साथ कुकर्म और फिर उन्हें मारकर खाना। यह कहीं से भी सह लेने वाली बात नहीं है। इस मामले में जो भी दोषी है उसे सज़ा देते समय न्यायाधीश महोदय की कठिन सज़ाओं के सभी रिकॉर्ड तोड़ देने चाहिए चाहे उन्हें कलम की निब ही क्यों न तोड़नी पड़े।

मायावती ने एक बार नए सिरे से अपनी वापसी की है। जिस गणित के समीकरण के सहारे उन्हें पहचान मिली उसी गणित को उलटाकर उन्होंने वापसी की है लेकिन यह वापसी तभी लाभदायक होगी जब वे कम से कम पांच प्रतिशत ही सही, न्याय और सामाजिक व्यवस्था में सुधार कर सकें। एक हज़ार प्रतिशत करप्ट हुई व्यवस्था को एकदम से पूरा सुधारना तो शायद तथाकथित भगवान के हाथ में भी नहीं है। लेकिन यदि मायावती पांच प्रतिशत भी सुधार ला सकीं तो दो चुनाव बाद दिल्ली का सिंहासन पुश्तैनी काबिजों को उनके लिए खाली करना पड़ जाएगा। और, यदि ऐसा नहीं हुआ तो उनके सारे नए समीकरण उनके ही खिलाफ़ हो जाएंगे तब फिर किसी मायावती को जन्मने के लिए लम्बा इन्तज़ार करना होगा। वैसे मुझे नहीं लगता कि मायावती उस जाल की गांठें खोलने में कामयाब हो सकेंगी जिन्हें उन्होंने अपने मुख्यमंत्रित्व-काल में खुद ही लगाया है। अपराधी उन्होंने भी जन्माए हैं। मुलायम ने भी और भाजपाइयों ने भी। कांग्रेस का ट्रैक रिकॉर्ड भी साफ नहीं है। राजनीति के अपराधीकरण की शुरुआत तो नागरवाला काण्ड के पहले से हो चुकी है। सौ-सौ चूहे खाने के बाद बिल्ली के हज़ करने का मकसद और नतीज़ा सबको मालूम है। मायावती ने यदि उत्तर प्रदेश के विकास में किंचित् योगदान भी दिया तो उनकी कुरसी बची रहेगी। हालांकि, जिस नक्शेकदम पर वे चल रही हैं उससे पुरानी रवायत का ही अक्स दिखता है। अब बदले की राजनीति भी नहीं रही, पारिवारिक दुश्मनी की राजनीति चल निकली है। किस दिन कौन दिनदहाड़े सुला दिया जाएगा, इसका पता अंगरक्षक भी नहीं जानते।

इधर डॉक्टरों ने एक नया धंधा खोल दिया है। धंधा तो पुराना है लेकिन मीडिया की आंख की जबरदस्त उपस्थिति के कारण इन दिनों 'नोटिस' में ज्यादा दिख रहा है। बच्चियों की भ्रूण-हत्या और मानव-अंगों का व्यवसाय। सबके नर्सिंग होम्स में कुएं मिल रहे हैं और उन कुओं में कत्ल किए भ्रूण! लगता है कि डॉक्टर यह भूल गए हैं कि मरना उन्हें भी है। बच्चियों के होने वाले मां-बाप तो शायद उन जल्लादों को भी मात कर रहे हैं जो फांसी पर लटकाने से पहले ईश्वर से गुनाह बख्श देने की प्रार्थना ज़रूर करते हैं। ये मां-बाप जो अपनी बच्चियों को पैदा होने से पहले मार और मरवा रहे हैं, उस वक़्त किस दुनिया में थे जब वे इनकी रचना में इतने आत्मलीन थे कि 'बिस्तर' पर दो जीव, नर और मादा ही दिखते थे। तीसरे की उत्पत्ति कैसे होती है इसका पता क्या उन्हें अपने मां-बाप को देखकर भी नहीं चला ? क्या उन्हें अपनी भावी भूमिका का लेश-मात्र भी ज्ञान नहीं था ? हत्यारों की इस कौम को ऐसी कौन-सी सज़ा दी जाए जो क्रूर दिखती हुई भी इनके लिए कम मालूम पड़े ?

खाकी वर्दी अपना कहर ढाने पर तुली हुई है। उसके लिए व्यक्ति की सत्ता और उसका अस्तित्व कुछ भी नहीं है। कोई भी हो, अपराधी हो, न हो, पुलिस के पास एक डण्डा है जिसका उसे भरपूर उपयोग करना है। डण्डा टूट जाए, अपराधी या निर्दोष टूट जाएं, कोई फर्क नहीं। पुलिस को नहीं टूटना चाहिए। विकसित दुनिया में पुलिस को सहायक समझा जाता है। मैं पिछले बाईस साल से अबू धाबी में हूं। मैंने यहां की पुलिस को इतना-फ्रेण्डली देखा है कि किसी को पुलिस से डर नहीं लगता। कोई पुलिस को रिश्वत नहीं देता। किसी के कहने पर पुलिस किसी को झूठे मुकदमें में नहीं फंसाती। सड़क पर किसी गाड़ी के ड्राईवर से पुलिस को पैसे लेते नहीं देखा। लेकिन एशिया और अफ्रीका के कुछ देशों में उल्टा है। हिन्दुस्तान की तो बात ही निराली है। पुलिस किसी अपराधी या निरपराध को लिटाकर उसके घुटनों पर मोटरसायकिल चला सकती है। किसी को मोटरसायकिल में बांधकर सड़क पर घसीट सकती है। हिन्दुस्तान ऐसा देश है जहां किसी प्रदेश का मुख्यमंत्री शपथ ग्रहण के बाद अपना पहला काम पुलिस अफसरों के तबादले से शुरु करता है। अफसर भी जानते हैं कि मामला अगले चुनाव तक का ही है। अभी नहीं कमा पाए तो अगले टर्म में भरपाई कर लेंगे। अभी बहुत हुआ तो लाइन हाज़िर .... या सस्पेण्ड... आगे तो आका हैं हीं, जो उन्हें बचा लेंगे। पुलिस वाले अपनी लाठी भांजने में लगे हैं। किसी का अंग-भंग हो उन्हें क्या ? अपनी लाठी की चोट कोई पुलिस वाला तभी जानेगा जब उसकी लाठी कोई सिरफिरा उसी की खोपड़ी पर तोड़ दे। ध्यान रहे कि मैं शिष्ट भाषा का प्रयोग कर रहा हूं। मेरी अशिष्ट भाषा तो कुछ और ही कहती .....

मंत्री तो मंत्री, विधायक तक यह कहते हैं, **"मैं विधायक हूं....."** यह वाक्य अब एक धमकी है। इस धमकी को जो नहीं समझ पाता उसे शायद अपनी जान का मोल पता नहीं। देश के विधायकों और मंत्रियों ने वह सब कुछ हथिया लेने को अपना ध्येय बना लिया है जो कुछ उनकी 'पहुंच' में है। हर किसी के पास एक अकूत सम्पत्ति है जो उनकी नहीं है। अगणित सुविधाएं हैं जिन्हें भारत सरकार ने उन्हें जन-प्रतिनिधि होने के नाम पर दिया है। इन्हें जन-प्रतिनिधि भी तो 'जनता' ने ही बनाया है। इन सबके गिरहबान में हज़ारों नहीं करोड़ों छेद हैं। मेरा मानना है कि ये छेद 'रफू' नहीं होने चाहिए। और, इनके खिलाफ दायर मुकदमों को लम्बा भी नहीं करना चाहिए। न्याय की लम्बी प्रक्रिया भी बेअसर साबित होती है अगर अपराधी दण्डित होने से पहले ही अपना पूरा जीवन लोकतंत्र में मिली बेपरवाह स्वछन्दता में जी ले। राजनीतिक अपराधीकरण को इसके अलावा किसी अन्य तरीके से रोका नहीं जा सकता। लेकिन यह तो सम्भव तब होगा जब गुण्डे को शहीद कहने की परम्परा खत्म हो। और, वह परम्परा ही क्या जो चलाए बिना

भी चले। लोकतंत्र की कुरीतियों को हमेशा के लिए ज़हर देकर सुलाने का कानून कौन-सी सरकार बनाएगी ? कहीं ऐसा तो नहीं कि हम्माम के सब नंगे नंगई को ही जीने के आदी हो गए हैं।

प्रिंस के बोरवेल में गिरने के बाद एक साल में ही कई बच्चों के बोरवेल में गिरने की ख़बर टी.वी. पर आई है। दिन भर एक ही ख़बर। लेकिन कोई चेनैल यह नहीं बताता कि कुआं किस का था ? यदि कुआं मालिक को 50 लाख रुपये और सरकार को 2 करोड़ रुपये का मुआवजा ठोंका जाए और उनके खिलाफ कहीं भी अपील न हो सकने का विधेयक जारी हो तो कोई बच्चा अकाल मौत का शिकार नहीं होगा। जब तक कुआं मालिकों और सरकारों को कठोर दण्ड नहीं मिलेगा तब तक मौत का यह ताण्डव होता रहेगा।

साहित्य में कुनबागिरी थी। स्कूल भी थे लेकिन दादागिरी नहीं थी। स्कूल तो खत्म हो गए। उनकी जगह अब कैम्प चल रहे हैं। और कैम्पों की दादागिरी भी। मुझे विश्वास तो नहीं था लेकिन पिछले दो साल से दूर बैठे ही यह एहसास होने लगा है कि हिन्दी साहित्य में कूटनीतिक जोड़-तोड़ खुलकर सामने आने लगा है। पहले भी ऐसा होता था लेकिन चरित्र-हत्या नहीं होती थी मगर अब चरित्र-हत्या मुख्य मुद्दा बन गया है। इस समय दूर रहकर जो कुछ मैं देख रहा हूं उसमें एक कैम्प बड़े ही संगठित तरीके से अपनी सत्ता को भोज-पत्रों या छालों पर लिखवाकर अमिट छोड़ जाने की कवायद में लगा है। हालांकि, उसे मालूम है कि वह काग़ज़ पर लिख रहा है और काग़ज़ की ज़िन्दगी बहुत नहीं होती। साहित्य की दुनिया में यह मख़ौल क्यों हो रहा है ? कुछ लोग कुछ लोगों को जबरन बनाने पर क्यों तुले हैं ? आधा दर्ज़न नकली रचनाकारों को चमकाने में अपनी ऊर्जा क्यों ख़र्च कर रहे हैं ? बिना यह जाने कि बचेगा वही जिसमें रचने की शक्ति होगी। जिसमें दम होगा। साहित्य की दुनिया में यारी क्षणिक परमानंद होती हो तो हो, स्थायी आनन्द का सबब नहीं होती? शैलेश मटियानी को कौन मिटा पाएगा ? लेकिन वे मठाधीश ही क्या जो महंती से बाज आएं? आलोचकों, परीक्षा की घड़ी तुम्हारे लिए है !

कानपुर में मुझे एक साहित्यकार ने संक्षिप्त मुलाकात में बताया कि हिन्दी में नई पीढ़ी की जिन लड़कियों का लेखन सामने आ रहा है, उसमें अस्सी प्रतीशत 'फेक लेखन' है। यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ कि कौन हैं वे लोग जो इन लड़कियों के लिए लिख रहे हैं ? फिर, याद आया कि साठ-सत्तर के दशक में तथाकथित बड़े-बड़े गीतकारों ने भी तो चार-चार गीत कई लड़कियों को देकर कवयित्रियां बना दिया.....

'कास्टिंग काउच' की परम्परा पुरानी है.....

हिन्दी साहित्य में इधर आत्मकथाएं बहुत आई हैं। पत्रिकाओं के संपादक लेखकों और लेखिकाओं को बहुत उकसाते हैं कि आत्मकथा लिखें। मतलब अपने को उघाड़ो और हम न केवल तुम्हें नंगा देखें बल्कि उसकी फिल्म बनाकर दुनिया को दिखाएं और सामूहिक बलात्कार का मज़ा लें। खासतौर पर लेखिकाओं को उकसाना उनका कर्त्तव्य बन चुका है। बहुत-सी लेखिकाएं उनके झांसे में नहीं आतीं। कुछ आ भी जाती हैं। मगर उनकी आत्मकथा पढ़ते ही यह समझ में आ जाता है कि वह कितनी प्रायोजित है। **पता नहीं क्यों, आजकल मुझे सच से अधिक झूठ पर यकीन आसानी से होता जा रहा है। शायद इसलिए कि आज की दुनिया में झूठ, सच से अधिक विश्वसनीय लगने लगा है।** एक लोकोक्ति है - ट्रुथ इज़ स्ट्रैंजर दैन फिक्शन। लेकिन

जिस दोराहे पर मैं खड़ा हूं वहां एक प्रश्न व्याकुल करता है कि क्या यह स्थिति चिरन्तन होगी? प्रभा खेतान की आत्मकथा चर्चा में है। मैंने उसे पढ़ा भी है। पढ़ा इसलिए कि मैं भी पिछले पांच साल से आत्मकथा लिख रहा हूं। अपने को अभिव्यक्त करने के लिए दूसरे की अभिव्यक्ति को देखना-पढ़ना-महसूसना ज़रूरी हो जाता है। इससे सीख ही मिलती है। लेकिन एक समर्थ, सेल्फ मेड महिला का जितना कमज़ोर और दयनीय रूप इस आत्मकथा में है वह दुनिया की किसी भी महिला को उसके **सशस्त्रीकरण वर्ष** में किसी किस्म की कोई प्रेरणा नहीं देता। आत्मकथा का मतलब **'शत्रुभ मैं शापमय वर हूं'**, नहीं है। आत्मकथा का उद्देश्य दुनिया के उस शख्स को घनघोर मॉरबिडिटी से निकालना है जिसके सान्द्र प्रभाव में वह आत्महत्या तक कर सकता है। मैंने राजेन्द्र यादव से जब इस बाबत पूछा तो उन्होंने अपनी याददाश्त के करिश्मे का परिचय देते हुए एक शेर कहा -

तर्के ताल्लुकात को एक लम्हा चाहिए,
उम्र-भर मुझे मगर सोचना पड़ा।

हो सकता है कि यह शेर मैंने ग़लत लिखा हो मगर भाव वही हैं जो उन्होंने कहा। कुछ हद तक मुझे यह सच भी लगा किन्तु यह सार्वभौम सच नहीं है।

रहा सवाल अंधे प्रेम का तो उसके लिए कहावत है - **लव इज ब्लाइण्ड**। ऐसा ही कुछ 'कथादेश' में असीमा भट्ट का आत्मसंघर्ष पढ़कर भी हुआ। उनसे वह कम्बल ही नहीं छूट रहा है जिसे किसी लाण्ड्री पर देकर हमेशा के लिए भूला जा सकता है। असीमा को क्या यह बताना पड़ेगा कि जिस आलोक धन्वा को वह फींच नहीं पाईं, वह रचनाकारों की दुनिया का अकेला सैडिस्ट नहीं है। उसकी जमात तो बहुमत में है। हिन्दुस्तान की राजधानी में रहकर और लोलुप रचनाकारों के बारे में हल्का-सा उल्लेख भर करके रह जाने वाली असीमा क्या इस क्रूर सच से अनजान हैं ? आलोक धन्वा से मेरी कोई दुश्मनी नहीं है। आलोक धन्वा मेरे लिए एक नाम है जो प्रतीक है।

एक ज्वलंत प्रश्न :

पूरे देश में किसी भी बात को लेकर एक भीड़ उमड़ पड़ती है और राष्ट्रीय सम्पत्ति को नष्ट करती है। न जाने कहां से इतने लोग अचानक इकट्ठे हो जाते हैं कि ताज्जुब होता है। यह भीड़ राष्ट्रीय सम्पत्ति को आग लगाती है बसों और ट्रकों को जलाती है। सरकारी भवनों और वाहनों को क्षतिग्रस्त करती है। तोड़-फोड़ करती है। हर दिन लगभग एक से दो करोड़ की राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट होती है। क्या यह वाज़िब है ? क्या ऐसा करना चाहिए ? यह तो विवेक पर निर्भर करता है। भीड़ का विवेक कौन खा जाता है ? कृपया अपने विवेक का परिचय दें। 'निकट' आपको एक इशारा कर रहा है कि विकसित दुनिया की ओर बढ़ते हुए ऐसा कुछ न करें जो आपको आदिम दुनिया की ओर ले जाए।

अब, कुछ बातें 'निकट' को लेकर - रचनाकारों और पाठकों से

'निकट' का दूसरा अंक भी सबको उसी तरह मिलेगा जैसे पहला अंक मिला। एक घोषणा और, तीसरे अंक से 'निकट' अपने रचनाकारों को सम्मानजनक 'पुष्प-पत्र' देगा।

'निकट' का दूसरा अंक 'आस-पास विशेषांक-1' है। इसमें भारत के रचनाकारों को जगह मिली है। अगले अंक 'आस-पास विशेषांक-2' में भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान, श्रीलंका और नेपाल के रचनाकारों की रचनाएं होंगी।

पाठको,

'निकट' को अपनाएं। इसका सदस्य होने की पहल आप स्वयं करें। पठनीयता के संकट को ध्वस्त करती यह पत्रिका आपकी है। इस संकट को मुंह तोड़ ज़वाब दें। आपके उत्साहवर्धन से मेरा साहस बढ़ेगा। मैं, अशोक कुमार एवं कांता भाटिया की ओर से आपके प्रति आभार प्रकट करता हूं। साथ ही पत्रिका के प्रकाशक का भी आभारी हूं जिन्होंने अपनी सुरूचि का परिचय देते हुए साज़-सज्जा के साथ भव्य रूप में पत्रिका के प्रवेशांक को समय पर सामने रखा। अगले अंक और बेहतर होंगे।

वो चला गया जो हर किस्से की जान था.....

हां, वही, कमलेश्वर? कमलेश्वर का हमारे बीच से उठ जाना महफिल को सूना छोड़ जाना है। कमलेश्वर ने मुझे एक नई कहानी देने का वायदा किया था। वायदा, वायदा ही रह गया। 'निकट' की ओर से हमारी श्रद्धांजलि।

प्रवेशांक में अंजना संधीर की कविता अधूरी चली गई। इसके लिए हमें खेद है।

अनेक प्रयासों के बाद भी मैं वयोवृद्ध साहित्यकार श्री विष्णु प्रभाकर एवं श्री श्रीलाल शुक्ल के साक्षात्कार नहीं प्राप्त कर सका। दोनों साहित्यकार अस्वस्थ हैं। उनके स्वास्थ्य लाभ की कामना के साथ।

छपते-छपते *- अंक कुछ देर से आ रहा है। इसके लिए क्षमा-याचना के साथ,*

आपका

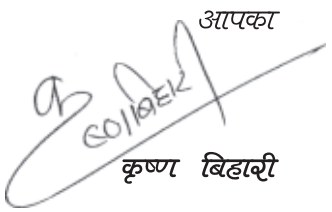

कृष्ण बिहारी

आपकी बात, आपके पत्र

- *'निकट' का प्रवेशांक मिला। आपकी पत्रिका हमारी है और हमारे बहुत करीब भी है। ''निकट'' का बहिरंग और अंतरंग इतना सुन्दर है कि मैं शब्द विहीन हूं। सम्पादकीय पढ़ गया हूं। पत्रिका को पूरा पढ़ने के बाद विस्तार से लिखूंगा।* **विष्णु प्रभाकर, नई दिल्ली।**

- *खाड़ी देश से पहली हिन्दी साहित्यिक पत्रिका। स्वागत है। सुन्दर साज-सज्जा और विभिन्न देशों में रहने वाले हिन्दी के साहित्यकारों की इतनी रचनाएं। इस सराहनीय प्रयास पर हमारी शुभकामनाएं।* **योगेन्द्र मोहन, अध्यक्ष दैनिक जागरण समूह।**

- *'निकट' के लोकार्पण समारोह में मैं उपस्थित था। मुझे दुबई में इस कार्यक्रम में जो उत्साह देखने को मिला उससे यह विश्वास है कि पत्रिका को तुम नई ऊंचाइयों तक ले जाने में सफल होंगे।* **राजेन्द्र यादव, संपादक 'हंस' नई दिल्ली।**

- *'निकट' में दुनिया के कई देशों में बसे हिन्दी के रचनाकारों को शामिल करने का कठिन काम तुमने किया है। बधाई। पत्रिका के अगले अंकों में रचनाओं के चित्रांकन पर विशेष ध्यान दो। मेरी शुभकामनाएं हमेशा तुम्हारे साथ हैं।* **राजेन्द्र राव, संपादक 'पुनर्नवा पृष्ठ' कानपुर।**

- *भाई, क्या कागज़ वहां बहुत सस्ता है ? इतना बढ़िया काग़ज़ देखकर तबियत प्रसन्न हो गई। पत्रिका आकार-प्रकार में ही नहीं बल्कि हर रूप में अद्वितीय है।* **संतोष दीक्षित, पटना।**

- *'निकट' के प्रवेशांक ने साहित्यिक पत्रिकाओं की भीड़ में अपने आगमन की धमक का एहसास करा दिया है। पाठकों का स्नेह पत्रिका को मिलेगा इसमें तो कोई शक ही नहीं है। कहानियां उपन्यास अंश और संस्मरण सब कुछ पठनीय है।* **अंबिका सिंह वर्मा, कानपुर।**

- *भाई, तुम्हारी कहानियों का कायल तो था ही तुम्हारे संपादक को देखकर भी मैं चकित हूं। इतनी सुन्दर और सज-धज के साथ पत्रिका निकालने के लिए बधाई।* **हरि भटनागर, भोपाल।**

- *'निकट' के प्रवेशांक को देखकर आश्चर्यचकित हूँ। हिन्दी में पत्रिकाएं तो बहुत हैं लेकिन इतनी पठनीय सामग्री के साथ सुसज्जित पत्रिका दूसरी कोई नहीं। अगले अंक की प्रतीक्षा के साथ।* **जया जादवानी, जरहाभाटा, बिलासपुर।**

- *कृष्ण बिहारी भाई 'निकट' की कहानियां तथा अन्य सामग्री स्तरीय है। रचनाओं के चित्रांकन को विशेष महत्व दें।* **गोविन्द उपाध्याय, कानपुर।**

- *'निकट' में लगा काग़ज़ उसकी साज सज्जा तथा रचनाओं का चयन प्रशंसनीय है।*
  डॉ. रमेश शर्मा विभागाध्यक्ष हिन्दी, वी.एस.एस.डी. कॉलेज कानपुर।

- *'निकट' का प्रवेशांक मिला। आपकी दृष्टि इसमें उत्तरोत्तर सुधार लाएगी ऐसा मेरा विश्वास है।* **इन्द्रजीत त्रिपाठी, गोरखपुर।**

- *'सम्पादकीय', उपन्यास अंश आत्मकथा का हिस्सा, संस्मरण, पूर्णिमा वर्मन के गीत सब कुछ तो मन को बांधने वाला है। पत्रिका न केवल खूबसूरत है बल्कि यह सूरत और सीरत दोनों में बाज़ी मारती है।* **गीताश्री, आउटलुक हिन्दी दिल्ली।**

- *हिन्दी में इन दिनों अनेक पत्रिकाएं एकाध अंक तक दिखती हैं। उनके भविष्य का क्या होता है पता नहीं चलता। लेकिन 'निकट' को देखकर यह आशा जगती है कि इसका भविष्य उज्ज्वल है।* **जयनन्दन, जमशेदपुर।**

- *तुम्हारे सपने का पहला चरण 'निकट' का प्रवेशांक है। मुझे पूरा यकीन है कि तुम इसे अपनी ऊर्जा और संजीवनी से अमिट बनाओगे।*

  विनोद शुक्ल, प्रबन्धक दैनिक जागरण लखनऊ।

- *'निकट' को केवल देख सका हूं। समय मिलते ही पढ़ूंगा और अपनी राय दूंगा। आपकी कोशिशें कामयाब हों इस शुभकामना के साथ।*

  वी.के. माथू, प्रधानाचार्य अबूधाबी इण्डियन स्कूल आबूधाबी।

- *आपके द्वारा भेजी गई पत्रिका 'निकट' मिली। मुखपृष्ठ के आकर्षण ने अद्भुत प्रभाव छोड़ा है। रचनाएं प्रभावित करती हैं। पत्रिका का मूल्य भी तय करें।* **अवतार कौर, दिल्ली।**

- *आपके सम्पादन में निकली पत्रिका 'निकट' का प्रवेशांक मिला। मैं एक युवा रचनाकार हूं। क्या 'निकट' युवा रचनाकारों के लिए भी निकट होगा भव्य रूप में पत्रिका निकालने के लिए बधाई।* **बहादुर सिंह चौहान, बांसगांव, गोरखपुर।**

- *पत्रिका का प्रवेशांक देखकर बेहोश होने को जी चाहता है। अद्भुत रूप और अद्भुत सामग्री। अगले अंक की प्रतीक्षा अभी से है।* **सुशील सिद्धार्थ, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली।**

- *'निकट' नाम इतना प्रिय है कि इससे अलग हुआ ही नहीं जा सकता। एक ऐसी जगह जहां हिन्दी उतनी लोकप्रिय साहित्यिक रूप में तो कतई नहीं है वहां से हिन्दी भाषा में साहित्यिक पत्रिका निकालने का प्रयास कितना कष्टसाध्य होगा इसका अनुमान लगा सकती हूं। आप अपने प्रयत्न में लगे रहें। मुश्किलें आसान होती जाएंगी।* **सुशीला पुरी, लखनऊ।**

रजनी गुप्त

कहानियां और उपन्यास लिखने वालों की दुनिया में एक तटस्थ हस्ताक्षर। बत्तीस दांतों के बीच ज़बान कैसे सुरक्षित रहती है, उसका एक अलग उदाहरण। 'कथाक्रम' पत्रिका की उप-संपादिका। अपने अप्रकाशित उपन्यास 'एक न एक दिन' का अंश 'सर्जना के साथ' उन्होंने 'निकट' को देते हुए यह कामना की है कि 'तुम जियो हज़ारों साल और साल के दिन हों पचास हज़ार'। उपन्यास अंश स्वयं में क्या कहता है ? यह पाठकों / पाठिकाओं पर छोड़ती हूं।

यू.को. बैंक,
लखनऊ में हिन्दी अधिकारी।
18, अधिकारी आवास, 3, पी.एम. रोड, लखनऊ।

सर्जना का साथ

राष्ट्रीय कला केन्द्र की कला दीर्घा में आज सुबह से ही खूब गहमागहमी है। जलरंगों में तैयार इन २५ चित्रों में वूमैन इम्पावरमैंट को उभारती एक से एक नायाब कलाकृतियां सूक्ष्म संवेदना के साथ-साथ उन्मुक्त नजरिए का आस्वाद कराती हैं। लोक शैली से प्रेरित जनजीवन के बारीक ब्यौरों को इतनी सजगता और सहजता के साथ उकेरा गया है कि यकीन नहीं होता कि बगैर किसी औपचारिक शिक्षण-प्रशिक्षण के खुद अपनी कला को विकसित करने वाली कलाकार की यह तीसरी एकल कला प्रदर्शनी है। प्रकृति की हरी-भरी छवियां उकेरते वक्त रंगों के मौलिक संयोजन और रेखाओं के जरिए अनुभवों के बारीक बिम्ब जैसे खुद अपनी कहानी कह रहे हों। भाषा के बंधन तोड़ कलाकृति खुद ही मन की बातों को खूबसूरती से अभिव्यक्त करने लगती। खासतौर पर आर्ट गैलरी के ऐन सामने प्रवेश द्वार की बायीं तरफ लगे चित्रों को ध्यान से देखिए - फाइबर शीट पर स्टेनग्लास रंगों से तैयार है ये। उधर दायीं तरफ एक्रेलिक माध्यमों का बेहतरीन इस्तेमाल सचमुच प्रभावित करता है।

देश के जाने-माने कलाकार डॉक्टर विजयानन्द ऐसा कह रहे हैं - यकीन नहीं कर पा रही अनन्या। देश की लगभग सभी महत्वपूर्ण गैलरियों में एकल और सामूहिक प्रदर्शनियां लगा चुके हैं वो। उनकी झोली में कई पुरस्कार हैं, कई फैलोशिप पा चुके हैं वो और कई बार कई तरह के सम्मानों से नवाज़ा गया है - 'सो उनकी टिप्पणी को ध्यान से सुनकर पुलकित होने लगी वो। उनकी हां में हां मिला रहे हैं आर्ट कॉलेज के प्रोफैसर आफताब अंसारी जो कम्प्यूटर से गढ़े चित्रों में प्रयुक्त लोक शैली की मुक्त कंठ से सराहना कर रहे हैं। घर की बैकग्राउण्ड में प्रयुक्त रंगों के मिश्रण बेजोड़ बन पड़े हैं जैसे लाल रंग के साथ पीला और लाल के पास हल्के से काले रंग के

बगैर किसी औपचारिक शिक्षण - प्रशिक्षण के खुद अपनी कला को विकसित करने वाली कलाकार की यह तीसरी एकल कला प्रदर्शनी है।

धब्बे डालकर इम्प्रैशंस की बनावट की तारीफ करते हुए उसके पास आकर बोले - 'वाह! कमाल की मैच्योरिटी है। बढ़िया पेंटिंग्स है।'

तभी किसी दर्शक ने उनसे पूछ लिया-'खूंटे तुड़ाने की चेष्टा करती गाय यानी ?'

- 'यानी घर में कैद स्त्री किस तरह अपने हक के लिए छटपटा रही है। स्त्री को लेकर परम्परागत और शाश्वत सोच को मैडम ने समकालीन सोच से जोड़ते हुए उसकी दुविधा और संकोच को प्रगतिशील नजरिए से दर्शाया है। रंगों का बेतरतीबी से इस्तेमाल में भी नयापन नजर आता है। इसके सफेद सतह (सरफेस) के ऊपर पड़ती लाल रोशनी कितना अलग प्रभाव डालती है। वास्तविकता के साथ-साथ प्रयोगात्मक भी है। सचमुच! अद्भुत आर्टिस्ट हैं आप तो। आपने फाइन आर्ट्स में डिग्री ली होगी?

बहुत-बहुत शुक्रिया वैसे इस हौसला आफजाई के लिए। पढ़ाई के दौरान थोड़ा-बहुत रुझान था चित्रकला की तरफ। हां, फाइन आर्ट्स की तरफ जाना चाहती थी मगर वो तमन्ना तब पूरी नहीं हो पाई। दरअसल कला तो अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने का एक जरिया भर है।

इस कांसैप्ट से स्त्री के चेहरे पर मुक्ति का आस्वाद दर्शाने की कोशिश की है।

मुझे खुशी है कि इन चित्रों को समझने में किसी को कोई दिक्कत नहीं आ रही।'

- ''आप जरूर गांवों में रही होंगी तभी इतनी बारीकी से लोकशैली का रेखांकन उस समय के हाथ से बने मिट्टी के घर, वैसा फर्नीचर और घर के बाहर पुरानी डिज़ाइन का बना वो कुआं और रहट के जरिए कुएं से पानी खींचने वाला दृश्य कितना सजीव बन पड़ा है। चलिए, इसी को खरीद लेते हैं। कितने की है ?''

- ''पांच सौ, वैसे है तो ज्यादा, चलो, एकाध को खरीद लेते हैं। आए हैं तो खरीदना ही पड़ेगा। सुनकर धक से दिल बैठ गया उसका। कला सर्जना का संसार मध्यवर्ग के लिए रोजी-रोटी का जरिया नहीं बन पाता। कितना खर्चीला होता जा रहा है उसका ये शौक। कैनवास, पेपर, रंगों की गुणवत्ता और अलग-अलग तरह का ड्राइंग मैटैरियल इकट्ठा करने में ही जेब ढीली हो गई। ऊपर से फ्रेमिंग का बढ़ता खर्चा। वो तो भला हो प्रिण्टमीडिया का जिसकी पॉपुलर पत्रिका 'वूमैन्स वर्ल्ड' ने स्पांसर कर दिया इसे। चारों तरफ से उठती आवाज़ों के बीच वह सोच में डूबी खड़ी रही तभी किसी ने आवाज़ दी, 'मैडम अनन्या, प्लीज़ इसे बताइए ज़रा, 'ये जो थीम है न, मंदिर की घंटियां... बहती नदी को देखती स्त्री की पीठ.....'

- इस कांसैप्ट से स्त्री के चेहरे पर मुक्ति का आस्वाद दर्शाने की कोशिश की है। घर से बाहर निकल मंदिर में कदम धरती स्त्री उस पल अपनी सारी तकलीफों और बंधनों की गठरी जैसे ईश्वर के पास छोड़कर मुक्ति की सांस खींच रही हो।

- 'यही तो आपका निजी मुहावरा भी बन गया है मैडम .... स्त्री की आज़ादी। तभी तो इसके फिगर में इतनी स्वाभाविकता और वास्तविकता दिखती है। इसकी टैक्नीकल बारीकियों के बारे में समझाइए ज़रा....' पीछे से किसी जिज्ञासु लड़की ने पूछा।'

- ''ये सारा खर्चा 'वूमैन्स वर्ल्ड' ने किया है या कुछ आपका भी लगा है ? विचित्र सत्य है कि मिडिल क्लास वूमैन को सही ढंग से रिप्रज़ैण्ट किया है मगर अफसोस कि मिडिल क्लास ही इन्हें नहीं खरीदती। शायद कूवत भी नहीं और जिनमें है भी वे बाज़ार के कूड़ा सामानों से भर लेंगे अपने घर को। कला के कद्रदां कहां रहे अब ?''

- 'नहीं, ऐसी बात नहीं.....' पीछे से किसी प्रौढ़ सज्जन ने कहा - ''कभी-कभी की तो बिक जाते हैं बशर्ते कि कला को परखने वाली वो आंख मिल जाए।''

'अरे! इन्हें कौन प्रमोट कर रहा है?' जनवाणी के सहसंपादक पूछने लगे। 'वही दढ़ियल विजयानंद सर.... वो जो दूसरे गेट पर खड़े हैं, वही बिकवाएंगे इन्हें। उच्च वर्ग के लोग ही खरीद पाते हैं इन्हें। वैसे सर की वहां तक पहुंच भी है और सम्पर्क भी है। कैनवास पेंटिंग की तो हमेशा बहुत मांग रहती है। आजकल के लोग वास्तविकता से जुड़ी पेंटिंग्स खरीदकर सजाने लगे हैं घरों को ..., देखो, जैसी वो सामने वाली दिख रही है कितनी रियलस्टिक है।'

- 'खेतों के बीच काम करती स्त्री फुरसत के पल निकालकर बच्चे को स्तनपान कराते हुए भाव विभोर मुद्रा में अपने बच्चे को तल्लीनता से देखती इसकी वो आंखें..... कितना कुछ कह रही हैं।'

- इतना खुलापन मगर गजब का सौन्दर्यबोध! थीम पकड़कर मर्म को छूने वाला प्रसंग है ये। पीछे से बच्चे का हिलता हुआ हाथ खुशी से चलते उसके दोनों पैर और स्तनपान के तृप्ति बोध से खिलता बच्चे का चेहरा। सब कुछ प्रतीकात्मक! लोग भले ही अश्लीलता का आक्षेप क्यों न मढ़ दें मगर कलाकार की सोच की सीमा तक नहीं पहुंच पाते दर्शक - एक बुजुर्ग से सज्जन भीड़ में से बाहर निकले और तुरन्त खरीद लिया उन्होंने इसे। देखते - देखते ६-७ पेंटिंग्स बिक गईं।

चलो, कुछ तो बिक्री हुई। फ्रेमिंग का खर्चा ही निकल आए तो बड़ी बात है - वह सोचती रही। लोगों के सुझावों को बड़ी एकाग्रता से सुनती रही वह - ''रंगों की निरन्तरता, थक्कों का इस्तेमाल, शेडिंग, बैकग्राऊण्ड कण्ट्रास्ट में अलग-अलग तरह की रोशनी के स्त्रोतों को पहचानने का गुर तो है कलाकार में लेकिन आजकल तो कला की दुनिया से तमाम तरह के ऑडियो-विजुअल इफैक्ट्स, बैकग्राऊण्ड म्यूज़िक और कम्प्यूटर के ज़रिए अलग-अलग तरह की 'टोन' डाली जा सकती है।''

- ''फिगर बनाने में जबरदस्त स्वाभाविकता है। उस बूढ़ी स्त्री की झुर्रियां तो देखो ज़रा। कितनी गहराई है इस थीम में - बूढ़ी होती स्त्री के सामने रखा आइना जिसमें वो गुजरते वक्त की परछाईं देखने और महसूसने की मनःस्थिति में है। काश! कि इसमें मूवमैण्ट्स भी डाले जाते।'' ऐन मौके पर वयोवृद्ध कलाकार अंसारी साब आ गए और कोने में टंगी पेंटिंग को ध्यान से देखते हुए दर्शकों को ऐसे समझाने लगे जैसे वो स्टूडैंट हों उनके या कोई क्लास चल रही हो - ''कलाकार के काम में परिपक्वता झलकती है। मां और बच्चे के अन्तर्सम्बंधों में गीत गाती स्त्री के चेहरे को देखो - यहां कई परम्परागत विधाओं का अतिक्रमण किया गया है जैसे - मक्खन बिलोना छोड़कर बच्चे को गोद में लेकर चुप कराने वाला सीन, मटकी से टपकता मट्ठा और वो खूंटी पर टंगी ढोलक को थपथपाकर कोई धुन सुनाती स्त्री। दूसरा चित्र देखो - ज़मीन पर रखी लालटेन की मद्धिम रोशनी के बीच घुटने मोड़कर आंगन में पढ़ाई करती लड़की - यानी थीम पुरानी है मगर नए ढंग से प्रस्तुत करके ताजगी का अहसास कराती है ये तस्वीर और यही होता है आधुनिक सौन्दर्य बोध। देखो, लाइट लगी है घर में - मगर रोशनी नहीं। आजकल के गांवों में बिजली की कटौती से त्रस्त बच्चों की पढ़ने की समस्या पर 'फोकस' किया गया है। कान्सैप्ट पुराना मगर प्रस्तुति नए ढंग की।''

टिप्पणियां सुन-सुनकर वह हुलसती रही। चेहरे पर प्रसन्नता की रेखाएं छिपती नहीं। तभी किसी नए लड़के ने पास आकर फोटो खींचते हुए पूछा - 'मैडम, किस तरह से बनाती हैं आप चित्र ? वाटरकलर से ?'

- 'हां, वाटरकलर का इस्तेमाल तो करती हूं लेकिन मुझे आयल पेंट्स और एक्रेलिक माध्यम भी खूब पसंद हैं। ज्यादातर कलाकृतियां नीरवता में तैयार की हैं मैंने। शांत परिवेश में पूरी एकाग्रता के साथ अपने-आप उभरती हैं 'इंटेंसफीलिंग्स।'

- 'मैडम, क्या आप इंटीरियर डेकोरेशन से जुड़ना चाहेंगी ? देखिए, मैं एक आर्कीटेक्ट हूं तो आपकी मदद कर सकता हूं, ये रहा मेरा पोर्टफोलियो। फिर वह रुक-रुक कर पूछने लगा -

''ग्रेजुएट इन फाइन आर्ट्स ?''

''अरे नहीं! बस हॉबी है ये तो। लगातार अभ्यास और जीवन से जुड़ी सच्चाइयों या तल्खियों को रेखांकित करने के अंदरूनी दबाव और ललक के चलते विकसित होता गया मेरा ये बचपन का शौक। कल्पना और हकीकत के साथ संतुलन साधते हुए...''

बीच में ही बात काटते हुए किसी पत्रकार ने पूछा - ''स्केचिंग-पोस्टर्स भी बनाती होंगी ? वैसे आप प्रिण्ट मीडिया में भी जा सकती हैं वहां बहुत स्कोप है विज्ञापन वगैरह में .....।''

- ''शुरू, शुरू में बच्चों के कार्टून बनाए थे कुछ। गांव की औरतों के संघर्ष को जताने वाले कुछेक पोस्टर्स भी बनाए थे मैंने। शुरू-शुरू में बच्चों को सिखाने के लिए ड्राइंग्स बनाती थी। थैंक्स कि आप लोगों से इतना अच्छा रेस्पांस मिल रहा है।''

- ''देखिए मैडम, इनके बिकने से आप कितना कमा लेंगी ? पांच हज़ार, दस हज़ार ज्यादा से ज्यादा पन्द्रह ...।''

- ''मगर मैंने तो इसे अर्थसाधन का माध्यम नहीं बनाया। मेरा मानना है कि कला की कीमत तय करके कला का सृजन संभव ही नहीं। ये तो मेरी आत्मा की पुकार है। इसे रचकर जो सुख, संतोष और जैसी खुशी मिलती है - उसे शायद मैं ठीक से बयां न कर पाऊं। सच बताऊं तो इसके वगैर मुझे अपना जीवन खाली, खोखला और निस्सार लगता है। प्रोफेशनल फील्ड में जाकर आर्ट से पैसा कमाने का जरिया अभी तक तो नहीं बनाया मैंने .....।''

- ''मगर कोशिश करने से हर्ज क्या है ? हमारे यहां कलाकृतियों का वैसा बाजार विकसित नहीं हो पाया। आपको पता होगा, पिछले महीने खुली जहांगीर आर्ट गैलरी बंद हो चुकी है। वहां तमाम अन्य वस्तुओं की प्रदर्शनियां लगने लगीं हैं।''

- सचमुच कलाकृतियों का कलैक्शन बाजार यहां है नहीं, खासतौर पर विदेश की तुलना में। मगर आप ही सोचिए - एक कलाकार एक अच्छा सेल्समैन कैसे हो सकता है भला ? मान लो यदि किसी कलाकार में वैसे गुण हों तो ?

- ''तो भी कोई बुराई नहीं। वैसे आजकल के कलाकार नेट पर अपनी कृतियां डालने लगे हैं। नेट का उपयोग करने से कई बार उन्हें अच्छे ऑफर मिल जाते हैं।''

- ''आपने कभी उपयोग किया नेट का ? देखिए मैडम, हर जगह कोशिश करनी चाहिए। कोशिश करने में क्या बिगड़ता है ? इंटीरियर डैकोरेटर्स सीधे मार्केट से जुड़े होते हैं। उनके साथ जुड़ने से आपका नाम भी चमकेगा और काम भी। इस तरह से आप लोकल से ग्लोबल होती जाएंगी। आप जानती होंगी - टैक्नीकल फील्ड में एनीमेशन की कितनी जबरदस्त मांग है इन दिनों। बच्चों की ड्राइंग कितनी फोर्सफुल इफैक्ट डालती है और सबसे बड़ी बात, बिकती भी खूब है।''

- ''देखिए मैम, इन दिनों कला के क्षेत्र में भी ग्लैमर प्रवेश कर चुका है। नामी कलाकारों की कृतियां के आकार लेते-लेते ही दाम लग जाते हैं ..... हुसैन साब को ही देख तो ....'' पीछे से एक महिला ने अपनी राय जताई।

बैकग्राउण्ड म्युज़िक, मूवमैण्ट्स डायलॉग वगैरह सब कुछ आर्टिस्ट के दिमाग की उपज होती है। सच बताऊं, मल्टीमीडिया से जुड़कर आप कहां से कहां पहुंच जाएंगी मैडम ? खूब पैसा है वहां .... खूब चकाचौंध भी, सोचिए इस तरफ भी।

- ''मगर एक बात बताइए सत्ता शीर्ष पर बैठे लोग क्या कर रहे हैं ? उनके पास कलाकारों के लिए न तो टाइम है, न ही वे इनके लिए कुछ करना चाहते हैं,'' गुस्से में पूछ बैठी वही महिला।

- राजनीति की बात छोड़िए। कहां आर्ट, कहां राजनीति ?

- तभी वो कम उम्र वाला लड़का फिर से अपनी बात का छूटा सिरा पकड़ते हुए बोलने लगा - 'सच बताऊं मैडम, बॉलीवुड में आर्टिस्टों की खूब मांग बढ़ती जा रही है इन दिनों। यूं नो वैल, आर्ट डायरेक्टरों के बिना कोई भी फिल्म बन सकती है भला ? आप प्लीज़ प्रोफैशनल फील्ड में आइए। फिल्म मेकिंग में आर्ट डायरेक्शन तक भी पहुंच सकती हैं आप? ऐसे क्या देख रही हैं ? मज़ाक नहीं कर रहा मैं। आई एम सीरियस..... प्लीज़ यकीन तो करिए मेरा।'

- ''अरे! अरे! आप लोग तो मुझसे बहुत ऊंची छलांग लगवाना चाहते हैं ? मुझ जैसे छोटे-मोटे कलाकार के लिए तो इस आर्ट गैलरी में जगह पाना ही बहुत बड़ी बात है। आप सबके प्रोत्साहन से ऊर्जा का नया संचार होने लगा। मुझे इसी बात की बहुत खुशी हो रही है कि यहां पर मुझे इतना अच्छा एक्सपोज़र मिला। वह पुलकित होते हुए मन ही मन उमगती रही।''

तब तक ललित कला अकादमी के डायरेक्टर भी पहुंच गए थे। प्रदर्शनी देखने के बाद वे सीधे अनन्या की तरफ ही चले आ रहे थे। अनन्या की तारीफ करते हुए बोले - ''कभी-कभी लम्बा वक्त लग जाता है इस लाइन में मगर लगी रहो और समकालीन मुद्दों पर ही 'फोकस' करो। अभिव्यक्ति शैली कितनी ही नयी क्यों न हो मगर स्थितियों को आकृति में डालते वक्त आत्म चेतना और संवेदना सबसे जरुरी तत्व है - यही तत्व रचना को ऊंचाई तक पहुंचाते हैं वैसे प्रोफेशेनल बनने के कई खतरे भी हैं। पैसों का खेल है ये। इस चक्रव्यूह में फंसकर अच्छे-अच्छे कलाकारों की कला की अकाल मौत होते देखा है मैंने। इसलिए बस यही उम्मीद है तुमसे कि तुम खूब-खूब सृजन करो और रचने के सुख में डूबी रहो। इससे बेहतर कुछ भी नहीं हो सकता - क्यों अनन्या ?''

''बिल्कुल ठीक कहा आपने। ये तो जीवन भर चलने वाली विशुद्ध साधना है, न कि कमाई का ज़रिया। सच में जब भी कुछ नया रचती हूं तो बड़ा सुकून मिलता है। एक बार जब हाथ में ब्रश या पेंसिल आ जाए तो नई-नई थीम तो आपने आप कौंधने लगती है और पहले सोयी थीम धरी की धरी रह जाती है।''

- ''हां ... और तो है रचना का असली सुख जिसके सामने बाज़ार की चकाचौंध फीकी पड़ जाए। भौतिक दुनिया कई बार कलाकार को दिग्भ्रमित कर देती है फिर वे अपने रास्ते से भटक जाते हैं इसीलिए कला यदि अर्थसाधन का माध्यम न बने तभी कलाकार उत्कृष्ट और चरम सुख को छू सकता है ... सच्चे सुख की छांव वहीं मिलेगी उसे।'' वे दार्शनिक मुद्रा में खोए खोए से बोलते जा रहे थे।

- ''मैडम आप करती क्या हैं ? मेरा मतलब प्रोफैशन''

- ''ये भी एक जटिल सवाल है हमारे देश का यानी कलाकार - साहित्यकार - शिल्पकार वगैरह का पेट नहीं भर सकता उनके सृजन से, इसलिए लोग ये मानकर चलते हैं कि ये तो इनका प्रोफेशन हो ही नहीं सकता। नहीं ..... नहीं आपकी गलती नहीं है। बिल्कुल मौजूं सवाल पूछा है आपने तो .....।''

- ''वैसे .... मैं स्कूल में बच्चों को ड्राइंग सिखाती हूं। उन्हें सिखाते-सिखाते कला की सोयी ललक जगी और फिर स्त्री जीवन के खटमिट्ठे अनुभव अपने आप रास्ता दिखाने लगते हैं। कल्पना और हकीकत को बैलेन्स करके चलने की कोशिश की है।'' उसने प्रोफेसर साब की तरफ देखते हुए जवाब दिया।

- ''कोई भी थीम रिपीट नहीं की आपने। बहुत सधा हाथ है आपका।''

– ''अरे नहीं! शेडिंग और कंट्रास्ट की समझ तो मेरी बेटी में मुझसे है। रंगों और रोशनी के हाईलाईट्स वही बताती है। आओ सर्जना... इधर आओ।''

अनन्या सब के बीच उसका परिचय कराने लगी। विकलांग कल्याण संस्था की अध्यक्ष नेहा चौधरी ही सर्जना को साथ लेकर आई थी वहां। अचानक सबके बीच उन्होंने अनन्या के बारे में बताना शुरू कर दिया – ''स्कूल में पढ़ाती है ये।'' बहुत होनहार है इनकी ये बेटी भी .... फिर वे अपनी संस्था के बारे में विस्तार से सबको जानकारी देती रही। नेवी ब्लू कलर की जार्जट की साड़ी में वे बहुत खूबसूरत लग रही थी। हिन्दी-अंग्रेज़ी खिचड़ी भाषा बोलते वक्त वे जानबूझकर गर्दन झटक कर अपने कटे बालों को हवा में उछाल देती। इसके उनके चेहरे पर बैठा जबरदस्त तेज और आत्मविश्वास सबको सम्मोहित करने लगा। बड़ी-बड़ी आंखों से वे प्रदर्शनी में लगे एक-एक चित्र को सराहना भरी नज़रों से देखती रही। उनके बदन से आती खुशबू धीरे-धीरे हवा में घुलकर खुशनुमा माहौल में नया रंग भरने लगी।

– 'ममा, चलो अब, घर...' सर्जना ने मां का हाथ कसकर पकड़ लिया और चल दीं बाहर जहां हवाएँ पूरे जोशोखरोश से ऐसी प्रफुल्लित होकर घूम रही थीं गोया वर्षों बाद किसी जेल से छूटा पंछी हो कोई। देखते-देखते आसमान में छाए बादलों का मिजाज कुछ यूं बिगड़ा कि हल्की-हल्की फुहारें पड़ने लगीं। उन्मुक्त बादल मस्त हाथी की तरह झूमते हुए बदलियों की रंग बिरंगी टुकड़ियों के साथ फ्लर्ट करने के मूड में नज़र आया। बादलों का गर्जन सुनकर सभी लोग जल्दी-जल्दी बाहर की तरफ निकलने लगे। पीछे से किसी ने सुलगते कोयले का टुकड़ा फेंक दिया हो जैसे – 'ये .... ये इनकी बेटी कैसे हो सकती है ? ये तो शायद डायवोर्सी हैं, डायवोर्सी।'

दहकते कोयले से चिटकते शब्द जैसे पूरी देह में जाकर चिपक गए हों – ''डायवोर्सी हैं, डायवोर्सी ..... ।'' अपमान के कोड़ों ने जैसे खाल उधेड़ ली हो किसी ने। आहत अनन्या सर्जना की उंगली थामे मजबूती से कदम बढ़ाती चलती रही। गर्मागर्म लावे जैसे तपते शब्द पेट में बेचैनी के बगूले बनाते जा रहे थे। उफ! ये ताने यहां भी उसका पीछा नहीं छोड़ते। जिस तथाकथित परिवार या समाज व्यवस्था को धता बताते हुए उसमें यहां आकर पनाह ली थी मगर वहां भी वहीं दोगले लोग ... वहीं दोमुंहीं व्यवस्था। कहीं भी चैन से क्यों नहीं जीने देते लोग ? अंदरूनी खौलन को शांत करने के लिए पर्स में रखी बोतल में से चंद बूंदे हलक के नीचे उतारी मगर तवा पर पड़ी बूंदों की तरफ छ न... न न... बिला गई। फिर वही चुभते ताने। कोई भी उसकी मजबूरी क्यों नहीं समझना चाहता ? लोगों के कटाक्ष लपट बनकर झुलसाने लगते उसके तन-मन को। अभी तलाक लिया नहीं तो ये हाल है, लेने पर क्या होगा ? जिस दमघोंटू माहौल से पिण्ड छुड़ाकर वह यहां चली आई थी – सुकून की लंबी सांस लेने मगर....! उफ! न जाने कहां-कहां से कैसे लोग आग उसके बारे में इतनी जानकारियां बटोर लेते हैं ? कितना छोटा और संकरा दायरा है इस दुनिया का जहां फंसा आदमी फड़फड़ाता हुआ पिंजड़े के भीतर सिर पटक-पटक कर लहूलुहान होता रहेगा मगर बाहर आने की हिम्मत करके जीने वाली औरतों को क्यों नहीं जीने देते ये तथाकथित भद्रजन ? पति क्या छोड़ा कि चरित्रहीन मान ली गई वह।

एक झटके से सब कुछ छोड़कर चली आई थी वह। फिर नए सिरे से उसने खुद को तैयार करके झोंक दिया था इस कला की दुनिया में जो उसका शौक था जिसके जरिए उसने अपने जीवन को नया अर्थ और विस्तार देना चाहा था। अनायास गुल्लक में जमा सिक्कों को यहां-वहां से हिला-हिलाकर देखने की उत्सुकता बढ़ने लगी।

जब रहा नहीं गया तो मन ही मन कहा – लो, आज गुल्लक फोड़ती हूं। उस दिन घर छोड़कर सीधे उसने बसुधा के पास जाने का मन बनाया। वसुधा चूंकि सिंगल थी और किसी एनजीओ की डायरैक्टर थीं – सो यही सोचकर वह उसके पास चली आई कि वह भी उसकी संस्था से जुड़ जाएगी। कॉलेज के जमाने से ही उससे दोस्ती थी। तेजतर्रार और खुदमुख्तार स्वभाव वाली थी इसलिए सोचा कि – चलो, हम दोनों मिलकर कुछ नया करेंगे। रास्ते भर वह छोड़ी दुनिया के साथ-साथ वसुधा की हाजिर जवाबी और हंसोड़ स्वभाव को याद करती रही मगर पुराने साथी क्या वही रह पाते हैं जैसा कि आप उन्हें जिस हाल में छोड़ते हैं कभी ? जिस दौर में आप अपनी दोस्ती को दिन-रात जी रहे होते हैं वही दोस्ती कालांतर में कितनी अप्रासांगिक होते-होते धुंधलाने लगती है। यकीन नहीं होता कि ये वही दोस्त हैं जिनके साथ-साथ आप कॉलेज लाइफ में छाया बनकर जीते थे? जिनके साथ-साथ दिन रात संग-संग उठना-बैठना, जागना-सोना, खाना-पीना यानी हर काम में एक सिक्के के दो पहलू बनकर जीते थे कभी। वही बाद में इतने बदले-बदले से क्यों नज़र आते हैं?

वसुधा ने बड़े फीके मन से स्वागत किया। एक अजीब सी दूरी दोनों के बीच पसरी रही। जल्दी ही कचोटने लगा – यहां आकर ठीक नहीं किया अनन्या.... तुमने।

वजह ? बड़ी विचित्र सी वजह। उसके वहां रहने से कमिश्नर साहब से जुड़े उसके अंतरंग रिश्तों में खलल जो पड़ने लगी थी। हालांकि उसने उन्हें कन्विंस किया था कि वह उनके इस संबंध के बारे में न तो किसी से कुछ कहेगी न कभी कुछ पूछेगी। मुंह तक भर आए सवालों को वह बेरहमी से परे धकिया देती मगर बेचैनी और खलबलाहट को साथ लेकर आखिर कब तक जिया जा सकता था ? एक और भी डर लगा रहता था उसे जो कालांतर में जायज भी साबित हुआ।

उसे लगता - कहीं अनन्या से भी वह ... वैसा आकर्षण महसूस न करने लगे। स्त्री सुलभ ईर्ष्या कहें या असुरक्षाबोध से उपजा डर, वसुधा को लगता - कहीं इसके चलते उसके अपने रिश्तों पर कोई बुरा असर न पड़ जाए। वजह जो भी हो मगर एक दिन वो दबी जुबान से पूछ बैठी - ''अनन्या, क्या सोचा है ? अपनी आगे की ज़िंदगी के बारे में क्या प्लानिंग है?''

- 'कुछ खास नहीं मगर जल्दी चली जाऊंगी तुम्हारे यहां से....' वह अनमने मन से बोली।

- 'मगर कहां ? रहने का इंतजाम किया ? पैसों की व्यवस्था वगैरा.....'

- 'वसुधा, प्लीज़ ऐसे अटपटे सवाल मत पूछो। कई जगह एप्लाई किया है। एकाध दो स्कूलों में इण्टरव्यू दे चुकी हूं मगर अभी तक कहीं से कुछ फाइनल रेस्पांस नहीं आया।'

- 'आज कमिश्नर साब को तुम्हारी चिंता हो रही थी। जानती हो अनन्या, इन पुरुषों की जाति बड़ी लोलुप, बड़ी मतलबी होती है। बड़े शातिर दिमाग होते हैं ये लोग और ..... और, तुम समझ पा रही हो न जो मैं कहना चाहती हूं। क्या पता कल के दिन वो तुम्हारी तरफ खिंचने लगें तो कितना बुरा लगेगा ? मज़ाक-मज़ाक में वो ऐसी-ऐसी बातें कह जाते हैं कि क्या बताऊं तुम्हें ? किस मुंह से? एक दिन तुम्हें लेकर एक भद्दा सा मज़ाक किया था। हां, उनकी निगाहें सही नहीं लगतीं मुझे। इसलिए मैं नहीं चाहती कि तुम अब यहां और रुको और खामखवां उनकी नज़रों में पड़ो। क्या भरोसा उनका ?'

- 'मगर वसुधा, तुम क्यों ऐसे आधे-अधूरे रिश्तों के पीछे पड़ी हो ? आखिर इन्हें कब तक खींच पाओगी ? ऐसे खोखले रिश्तों में कोई दम नहीं है। इसलिए क्यों नहीं काटकर फेंक देती ऐसे इंसान को जिसकी निगाहें इतनी गिरी हुई हैं ? आईमीन.... मैं तो तुम्हें छोड़कर आज-कल में ही चली जाऊंगी मगर तुम ऐसे रसिया लोगों को किस-किस से बचाती फिरोगी ? ऐसे आदमी के सहारे कैसे जिओगी जो खुद.... ? मेरी मानो छोड़ दो उन्हें उनके हाल पर।'

''तुम ठीक कह रही हो मगर मैं ऐसा नहीं कर पा रही अनन्या, चाहकर भी। कोशिश करके देख लिया मगर इन्हें छोड़ने के नाम पर दहशत होने लगती है। जी घबराने लगता है। यू नो, जब शादी की उम्र थी तो समाजसेवा का जुनून था। समाज की सड़ी-गली व्यवस्था को बदल डालने की धुन सवार थी सो सुदूर देहातों में जाकर साझे सरोकार के जरिए शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। तब उनसे जुड़े कई मुद्दों को जोर-शोर से उठाया भी था मगर उम्र के इस मोड़ तक आते-आते वो जोश चुकता गया धीरे-धीरे। ऐसे ही एक सोशल प्रोग्राम में टकरा गए थे ये। बस तभी से ऐसे ही अचानक से चल पड़ा ये सिलसिला। उनके इस विभाजित प्यार में से शायद मुझे बूंद भर कुछ भी नहीं मिलता होगा जबकि मेरी इनसे गहरी संलिप्तता है कि इनके वगैर जीने की कल्पना तक नहीं कर सकती .... पलभर के लिए भी इनके वगैर रहना नहीं आता मुझे।''

- इनके परिवार के बारे में जानती हो कुछ ?

''थोड़ा बहुत। इनकी बीवी भी ब्यूरोक्रेट हैं। दोनों बच्चों के साथ नोएडा में अकेली पड़ी रहती है। ये भी यहां अकेले पड़े थे और मैं भी खाली और अकेली जी रही थी, इसीलिए अनायास शुरू होता गया ये सब। नियति को शायद यही मंजूर था। - वह मशीनी ढंग से बताती रही।''

- ''जस्ट टाइमपास फ्रैण्डशिप। एनी वे, सावधान रहो और प्लीज़ इस रिश्ते से कभी कोई उम्मीद मत पालना वरना.. बहुत मुश्किल होता है टूटने के झटके बर्दाश्त करना।''

'अनन्या, चौहान साब ने कल किसी स्कूल में तुम्हारी नौकरी के लिए बात की थी। तुम चाहो तो यहां के प्रिन्सिपल से मिल लेना। ये रहा पता....'

- 'थैंक्स ...' कहकर वह यहां-यहां बिखरे अपने सामान पैक करने लगी।

और फिर उसके बाद तो उसके जीवन की गाड़ी चल पड़ी। प्रिन्सिपल मैडम उसकी अंग्रेज़ी, साइंस और चित्रकला से खासी प्रभावित थीं। बच्चों को पढ़ाते-पढ़ाते कब और कैसे उसके भीतर कोई सृजनात्मकता के अंकुर पल्लवित होने लगे - उसे पता ही नहीं चला। अनाथ और विकलांग - लड़कियों के लिए खोली गई उस कल्याणकारी संस्था के अंदर बना था स्कूल। वहीं पर लड़कियों के रहने की व्यवस्था भी थी। अनन्या ने वही अपना डेरा डाला और उन्हीं के जीवन का अभिन्न अंग बनने की कोशिशों में तहेदिल से जुट गई।

जब वह पिछले वर्षों का जोड़-घटाना करने बैठी तो कुछ भी ऐसा नहीं दिखता जिसे मुट्ठी में दाबा जा सके। राजीव की दुनिया से बाहर निकल खुले आसमान की तरफ देखा था तब दुनिया पहली बार बड़ी मोहक, बड़ी सुन्दर लगी थी लेकिन उसी वक्त यह अहसास भी गहराने लगा कि इस दुनिया में एक इंसान का होना चींटी से भी कम मायने रखता है। संबंधों की जड़ में ही अन्तर्भूत है निर्भरता। उन्हें अकेले नहीं साधा जा सकता - ऐसे में क्यों हम उनके पीछे हाथ धोकर पड़ जाते हैं और खामखवां अपनी ऊर्जा बर्बाद करते हैं। यह भी विचित्र सत्य है कि इतनी अवहेलना, उपेक्षा और अपमान झेलने के बावजूद जिजीविषा का पौधा मरता नहीं। वही उमड़न-घुमड़न, वही सुर-संगीत का सरगम और आवेग का खुलता झरना और वैसा ही अनकहा सा नशा और बिल्कुल वही खुमारी आज भी जस की तस है।

मगर ये नशा किसी व्यक्ति के जरिए अपने को पहचानने, पाने या खोने का नशा कतई नहीं बल्कि ये तो सिर्फ काम का नशा है। स्कूल के बच्चों को चित्रकला सिखाते-सिखाते धीरे-धीरे उसका दायरा

बढ़ता गया। स्कूल के वार्षिकोत्सव में 'कला और क्राफ्ट' प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था जिसका उद्घाटन करने आई थी विकलांग कल्याण संस्था की अध्यक्ष मेघा चौधरी जिनका बायां पैर पोलियो के चलते कमज़ोर था और वे छड़ी लेकर चल पा रही थी मगर इन सबसे अछूता था उनका व्यक्तित्व। अंदरूनी तेज से दिपदिपाता गजब का आत्मविश्वास झलकता था उनके व्यक्तित्व में। विकलांग बच्चों के लिए वे एक एनजीओ चलाती है। उद्घाटन करने के बाद जब उन्होंने बच्चों को संबोधित किया तब उनके भीतर की मजबूत स्त्री उभरकर सामने आई -

''कौन कहता है कि आपका कोई नहीं ? सभी के मां-बाप एक न एक दिन छोड़कर चले जाते हैं। हम सब इस दुनिया में अकेले ही जन्मते और अकेले ही मरते हैं। मुझे ही देखो। आपके सामने खड़ी हूं, अपने बूते हासिल किया है ये मुकाम। पहले बीमा कंपनी में काम करती थी, उसके बाद रेलवे में फिर बैंक में काम किया। नहीं... नहीं... मेरी ये विकलांगता कभी आड़े नहीं आई। मानती हूं, आम आदमी से कई गुना ज्यादा बड़ा संघर्ष है हमारा। औरों के मुकाबले ज्यादा मेहनत करनी पड़ी मगर इसका अपना अलग सुख है। कम से कम इतना तो संतोष है कि हिंदुस्तान की खाई-अघाई उबाऊ औरतों की तरह आलू-परवल तो नहीं बन रहे हम ?''

इस बात पर सभी बच्चे जोर-जोर से हंसने लगे। वे बीच-बीच में चुटकुले सुन-सुना कर सबका मनोरंजन करती जाती।

''अच्छा बच्चो! ये बताओ, यहां पर क्या-क्या करना खूब अच्छा लगता है ? जैसे - ड्राइंग बनाना, मिट्टी की मूर्ति वगैरह बनाना या कलरिंग वगैरह, इन सबमें मजा आता है ?''

- ''हां'', बच्चियां समवेत स्वर में चिल्लाईं -''ड्राइंग करने में, कलरिंग में खूब मजा आता है।''

'तब तो हम सब खूब मजे करेंगे मिलकर। तो अगले महीने २६ जनवरी यानी गणतंत्र दिवस के मौके पर चलें हम सब, पिकनिक मनाने नींबूबाग के चिल्डरन पार्क में ? वहीं ड्राइंग कंपीटीशन वगैरा कर लेंगे और फिर तीन-चार लोगों को पुरस्कार भी दे देंगे... ठीक रहेगा न?'

''हां.... हां...'' एक बार फिर सभी बच्चों ने तालियां बजाकर हाथ उठाकर जोर से हुंकारा भरा।

''दैन...'' उसे मेघा चौधरी गजब की जीवन और धाकड़ किस्म की महिला लगी। स्कूल के बच्चों का दिल तो उन्होंने जीता ही, प्रिन्सिपल भी उनकी बातों से प्रभावित हुई। नाश्ते के दौरान उन्होंने अपनी संस्था के बारे में कुछ और जानकारियां देते हुए बताया - ''इनकी विकलांगता से मेरे अंदर जीवन से जूझने का जुनून पैदा होता है। मैं इनके गले की आवाज बनना चाहती हूं। इनका मुरझाया आत्मविश्वास लौटाना ही अब मेरे जीवन का एकमात्र ध्येय बन चुका है। इस दौर से खुद गुजरी हूं इसलिए इनकी शारीरिक, मानसिक परेशानियों का बखूबी अंदाजा है मुझे। इसीलिए मैने स्वैच्छिक सेवानिवृति ले लीं ताकि इनके वास्ते खूब सारा समय रहे मेरे पास। देखिए, हमारी यह भी कोशिश है कि रेलवे-स्टेशन और बस अड्डों पर बाधारहित रास्ता बनाया जाए। शिक्षा में भी इसको इनका बुनियादी हक मिलना जरुरी है। पिछले साल नेहरू पार्क को बाधारहित (बैरियर फ्री) बनवाया था हमने। एक महीने पहले एक अंधे लड़के को नौकरी से निकाल दिया था, फिर हम सब मिलकर सचिव से मिलने गए और उसको वाजिब हक दिलवाया। दरअसल उनकी आवाज बनना, उनके हाथ पैर बनना और उन्हें गाइड करना हमारी संस्था का मुख्य उद्देश्य है।''

- 'केवल परामर्श देने का करती है आपकी संस्था ?' बगल में बैठी एक अध्यापिका ने पूछा।

- 'हां, वो भी है ... और भी है जैसे दिसम्बर में विश्व विकलांग दिवस पर हमने नि:शुल्क पोलियो आपरेशन कैम्प लगाए थे। बुद्धा अस्पताल में आंखों के आपरेशन की व्यवस्था की थी। बच्चों के मनोरंजन के लिए व्हील चेयर रेसिंग कंपीटीशन भी कराया था। हमारी सबसे बड़ी कामयाबी तो यही है कि आज की तिथि में सरकार यदि विकलांगों को लेकर कोई पॉलिसी मैटर तय करती है तो वे हमसे परामर्श जरूर लेते हैं। हमारी सलाह-मशवरा के वगैर वे कोई फैसला नहीं लेते। जैसे तबादले के मसले को लेकर खूब शिकायतें मिल रही थीं हमें। इससे सभी त्रस्त थे, सो हमने ये मुद्दा उठाया। अब ये पॉलिसी तय हो गई कि इनका तबादला तभी किया जाएगा, जब वे खुद चाहें। इसके अलावा हम साल में एक-दो बार सेमीनार भी कर लेते हैं। हमारी एक वार्षिक पत्रिका भी निकलती है। मुख्य उद्देश्य है - सबके बीच चेतना जगाना कि विकलांगता शारीरिक उतनी नहीं बल्कि मानसिक ज्यादा होती है।'

- 'अब आपकी अगली योजना क्या है?' प्रिसिंपल ने बड़ी देर बाद कुछ पूछा।

'उनके रोजगार की गारंटी सुनिश्चित करना। सरकार से मिलने वाले फण्ड और लोन वगैरह को कम से कम ब्याज पर दिलवाना। रेलवे में इन्हें प्राथमिकता के तौर पर फ्री रिज़र्वेशन वगैरा....'

- 'क्या आपने गांवों को भी जोड़ा है अपनी संस्था से ?' बड़ी देर से चुप बैठी अनन्या पूछ बैठी।

- 'ऑफकोर्स! वहां जाकर हम पपेट शो और नुक्कड़ नाटकों (स्ट्रीट प्ले) के ज़रिए उनके बीच चेतना जगाने की कोशिश करते हैं। अभी इस दिशा में उतनी कामयाबी तो नहीं मिली मगर कोशिशें जारी हैं। प्रसंगवश एक वाकया याद आ गया - पिछले महीने हम एटा के पास दिलावरी गांव में गए थे। चलते-चलते हमारी नजर एक पोलियोग्रस्त बच्चे पर पड़ गई जो ठीक से खड़ा तक नहीं हो पा रहा था। गांव वालों से पूछते-पूछते हम

उसके घर भी गए, तांकि उसके बारे में उन्हें ठीक से सब समझा दें और उन्हें तैयार करें कि वे इसे हमारी संस्था में भेज दें। जैसे ही हम उसके घर गए और उसकी मां से पूछा - 'आपके कितने बच्चे हैं ?' एक पलंग पर सो रहा था, एक उसकी गोद में था और वो पोलियोग्रस्त बच्चा बाहर खटिया पर पड़ा था।

- ''जानती हैं क्या जवाब था उसका?''

- ''बस दो बच्चे हैं।''

- ''तो ये जो बाहर खटिया पर पड़ा है - ये किसका बच्चा है ?''

''अरे! वो तो ऐसौई है..'' यानी उसका होना, न होना मां के लिए बराबर था। ताज्जुब की बात है न ? विकलांग बच्चे के प्रति ऐसी उदासीनता कि उसे नगण्य मान लिया जाए ? इतनी उपेक्षा ... कि ये विकलांग है तो ऐसौई है.... यानी उनकी गिनती में आने लायक ही नहीं रहा वो बच्चा - 'सुनकर विचलित हो गयी थी हमारी पूरी टीम। इस दिशा में अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। उम्मीद है, आप लोग जरूर हमारी संस्था का 'साथ' देंगी... कम से कम नैतिक बल तो।'

- ''श्योर... श्योर... बिल्कुल... मेरा पूरा सपोर्ट रहेगा,'' अनन्या ने पूरे भरोसे के साथ कहा।

- ''एक और बात शेयर करनी थी। हमारी संस्था से जुड़े ३५ विकलांग बच्चों में से कइयों में तो इतनी जबरदस्त प्रतिभा है कि क्या बताएं ? एक बच्ची ने तो पिछले १५ अगस्त के दिन राज्यस्तरीय पुरस्कार भी जीता था। कमाल की चित्रकार है वो। शायद जन्मजात प्रतिभा इसी को कहते हैं, जबकि उसकी हथेली गायब है। लेकिन इसका उसे जरा भी काम्पलैक्स नहीं। इन बच्चों को हम विशेष ट्रेनिंग वगैरह देकर आगे बढ़ाना चाहते हैं ताकि कोर्स करके वे अपने पैरों पर खड़ा हो सकें। इसी तरह का एक लड़का सिर्फ पैरों के जरिए कमाल की धुन निकाल लेता है। चूंकि उसके हाथ नहीं हैं। इसलिए वो पैरों से हाथों का काम लेता है यानी पैरों का हाथों की तरह इस्तेमाल करने की कला जानता है वो।''

- ''वाकई! कुदरत भी किस तरह से हरेक के अंदर कुछ न कुछ हुनर बख्शती है। चैलेंजिंग बच्चों में भी कितनी प्रतिभा छुपी होती है.... बहुत देर से चुप बैठी एक अध्यापिका बहुत देर बाद बोली।''

- ''अरे! असली बात जो बतानी थी वो तो भूल ही गई। आपके आस-पास अगर कोई निस्संतान दम्पति हों और जो किसी बच्चे को गोद लेना चाहें, तो आप लोग उन्हें प्लीज़ मेरी संस्था के बारे में जरूर बता दीजिए।''

इसके बाद वे संस्था से जुड़े अन्य कामों के विस्तृत ब्यौरे बताने लगी। डी.आर.एम.मि. ए.के. सरकार ने विकलांगों की यात्री सुविधाओं में उत्तरोत्तर उत्थान के लिए उनकी संस्था को सम्मानित किया था। सांसद मि. लाल ने उनकी संस्था के हितार्थ सांसद निधि से एक मुश्त पांच लाख डोनेट कर दिए थे। शहर में दानियों की कोई कमी नहीं है। अब वे अपनी उपलब्धियां गिनाने लगीं।

अनन्या की सोच का रेशमी धागा उसी बच्ची पर अटका रह गया जिसने चित्रकला प्रतियोगिता में हथेली की उंगलियां न होने के बावजूद पुरस्कार जीता था। उस बहादुर बच्ची को जल्दी से मिलने और पास से देखने की बेचैनी बढ़ने लगी। उससे मिलने की तलब और अकुलाहट ऐसी बढ़ी कि उसके बाद तो मीटिंग की और बातें दिमाग के ऊपर से निकल गईं और फिर कुछ भी सुनाई नहीं पड़ा। वे बातें कानों के वे रास्ते से जरूर गुजर रही थी - ''हमारे प्रदेश में इस वक्त लगभग ३५ लाख विकलांग बच्चे हैं जिनके कल्याण और सुधार के लिए हमने कई प्रोजेक्ट प्लान किए हैं। समान अवसरों से वंचितों के लिए कानूनी और सामाजिक मुद्दों पर भी काम चल रहा है। जो ज्यादा पढ़-लिख नहीं सकते उनके लिए कम से कम ब्याज पर लोन दिलवाकर रोज़गार का जुगाड़ करावने के लिए कोशिशें कर रहे हैं। इसके बाद वे पुलिस कमिश्नर, डी.एम. और तमाम उच्चाधिकारियों से मिलते समर्थन का राग अलापने लगी। एक ही बात को घुमा-फिराकर बार-बार कहती रही।''

तभी प्रिन्सिपल मैडम ने कहा - ''चित्रकला की इस प्रतियोगिता में यदि आपके और इस स्कूल के बच्चे मिलकर शामिल होंगे और इस कंपीटीशन की जज होंगी मैडम अनन्या शाश्वत।''

- 'बिल्कुल यही नाम मैं भी लेना चाहती थी। मैंने इनकी चित्रकारी देखी है। आपके स्कूल में लगे पोस्टरों को ध्यान से देखा। तमाम कार्टून पिक्चर्स के नीचे इन्हीं का नाम पढ़ा है। इनसे अच्छा निर्णायक भला कौन हो सकता है ?'

- ''अच्छा ! फिर मिलते हैं गणतंत्र दिवस पर, सब बच्चों के साथ सुबह ५ बजे।''

गणतंत्र दिवस के दिन सभी बच्चे उस खुले पार्क में मस्ती के मूड में उछल-कूद करके उधम मचाने लगे। उस हंगामे के बीच जहां कुछ बच्चे हुड़दंग मचा रहे थे, तो कुछ झूले झूलने में मगन थे, तो कुछ गेम्स खेल रहे थे, मगर एक खामोश बच्ची चुपचाप तालाब में तैरती बत्तखों को ध्यान से देखते हुए सोच रही थी या सोचते हुए देख रही थी।

''क्या सोच रही हो बेटा ? उसने स्नेहवश उसके सिर पर वत्सल्य भरा हाथ फेरा तो वह पलटकर बड़े ध्यान से उसकी तरफ देखने लगी... टुकुर-टुकुर चिड़ियां की तरह।''

''बताओ न ? बत्तखें बहुत अच्छी हैं न ?'' वह भी वहीं खड़े होकर प्यार से बतियाने लगी।

- 'इसको देखकर ड्राइंग बनाने के बारे में सोच रही थी। रियल पिक्चर को बनाने में खूब मजा आता है मुझे। वैसे मेम, नेचर के रंगों को हू-बू-हू पकड़ पाना कितना मुश्किल होता है ? यहां इस हरे-भरे माहौल में इतने नजदीक

से सब पेड़ पौधों और पंछियों को देखकर उनकी आकृति और रंगों को समझने की कोशिश तो की जा सकती है, नहीं ?'

- 'वाह ! तुम तो बहुत होशियार हो बेटा ! कितनी समझदारी से कला की बातें कर रही हो ?'

क्या नाम है तुम्हारा ?

- 'दिव्या,' कहकर वह चुपचाप आसमान की तरफ देखने लगीं।

- ''जानती हो दिव्या, संसार की पहली भाषा चित्रकारी ही तो थी जिसके जरिए अपने मन की बात लोगों ने दूसरों तक पहुंचायी। एक ही चित्र को हम अलग-अलग थीम के जरिए अलग-अलग नजरिए से विकसित कर सकते हैं। जैसे हमारी भावनाएं और सोच है न.... कुदरत को भी हम उसी के मुताबिक ढालने लगते हैं - जैसे - चमगादड़ की तरह फड़फड़ाता मन या मन की फुनगियां पर विचारों के पंछियों की उड़ान।'' तब तक कुछ और बच्चे भी वहीं आ गए।

संक्षिप्त से भाषण के बाद शुरू हो गई प्रतियोगिता। मेहा चौधरी ने इस मौके पर कोई पत्रकारों और टी.वी. के स्थानीय चैनल वालों को भी बुला लिया था। प्रोग्राम के बीच गैस्ट थे - राहुल नन्दन, आई. ए. एस.। उन्होंने सभी, बच्चों को चित्र-कला से सम्बन्धित सामग्री पैंसिल, क्रेयोन्स, रंगों की शीशियां, पेपर वगैरह बांटे। अंतिम तीन विजेताओं को सुन्दर-सुन्दर रंगबिरंगी घड़ियां उपहार में दी गईं। उन्होंने प्रथम पुरस्कार विजेता दिव्या को पेंटिग की फ्रेमिंग करवाकर शहर की कला दीर्घा में रखवाये जाने की भी घोषणा कर दी।

बच्चों की चित्रकारी की मुक्त कंठ से सराहना करने के बाद अनन्या उपस्थित लोगों की तरफ देखते हुए संबोधित करने लगी - 'सहकर्मी साथियों और प्यारे बच्चो। आज के इस कार्यक्रम में हम सभी को खूब अच्छा लगा। इस चित्रकला प्रतियोगिता पर आप सबको एक छोटी सी थीम सुनाना चाहूंगी। सीताजी जब लंका से लौटकर आई तो ससुराल में उनसे सभी पूछने लगी - 'बताइए न भाभी! कैसा था रावण देखने में ? आपने इतने साल बनवास में गुजारे, वहां पर आपको क्या-क्या सुन्दर लगा ? कौन-कौन से लोग कैसे दिखते थे ? सीता ने मुस्कराते हुए रावण का चित्र बनाकर सबको दिखाया - 'अरे! इतना सुन्दर था रावण ? तब तो ज़रूर आप दोनों के बीच कुछ न कुछ रहा होगा यानी आपने पुरुष रावण को देखा होगा। इतना कहकर उन सभी ने श्रीराम से इसकी शिकायत कर डाली। जबकि माना यह जाता है कि सीता जी ने रावण को देखा तक नहीं था लेकिन उन्होंने अपने मन से सुन्दर कल्पना शक्ति का युक्ति संगत तरीके से प्रयोग करके चित्र बनाया जिसे देखकर श्रीराम भी मुस्करा दिए। कहा जाता है, वह भारत की पहली पेंटिग थी।'

मेरा मतलब, किस तरह हमारी ये पुरुषवादी सत्ता और ये समाज व्यवस्था सीधे - सरल अर्थ को भी अटपटे, बेतुके और असंगत तरीके से मनमाने अर्थ निकालने लगती है यानी सीधी चीजों को उलट पुलट कर देखने लगते हैं। इस तरह हम किसी 'थीम' के जरिए तत्कालीन समय और समाज को देखते हैं आपकी अंदरूनी संवेदना, प्रतिभा और कल्पना शक्ति को किस कदर चित्रों के जरिए अभिव्यक्त किया जा सकता है - यह देखना जरूरी होता है। हमारी सोच में प्रगतिशीलता का होना जरूरी है तभी हम बदलते समय को ठीक से उकेरने में कामयाब होंगे। हमारी सोच, पृष्ठभूमि और फिर रंगों का संयोजन इस सबमें रिफ्लैक्ट होता है हमारा व्यक्तित्व! अच्छा बच्चो! अभी फिलहाल इतना ही, बाकी बातें फिर कभी।' उसके बाद सभी बच्चों ने तालियां बजाईं।

आज के समय में अभिव्यक्ति के माध्यमों में कम्प्यूटरों के जरिए किस तरह कला का प्रोफेशनल इस्तेमाल किया जा सकता है। इस विषय पर चर्चा करते हुए सचिव महादेव हॉलीवुड में बन रही ऐनीमेशन फिल्मों में प्रयुक्त ग्राफिक्स, आवाज की डबिंग का सिर चढ़ता जादू, बैकग्राउण्ड म्यूज़िक और मिक्स मीडिया के बारे में बताते रहे। कला और कलाकार का भविष्य सुनहरा है - इसमें कोई संदेह नहीं। फिर से एरिना मल्टीमीडिया से सम्बोधित चर्चा करते रहे।

अनायास अनन्या का ध्यान फिर दिव्या की तरफ चला गया। कितने ध्यान से वो सबको सुन रही है। तितली पकड़ने की उम्र में इसके भीतर कहीं उदासी पालथी मारकर बैठ गई है। ऊपर से मुस्कराने का आवरण ओढ़े उदास लड़की की मासूमियत उसके भीतर गहरे उतरती गई। ठीक इसी वक्त उसके दुविधाग्रस्त मन में उड़ता सा ख्याल आया और अपनी जड़ें जमाता गया - 'हूं..., कुछ न कुछ फैसला लेना होगा। बच्ची! मेरी बच्ची, उसके होंठ बुदबुदाए। अरसे बाद भीतर सोयी चिड़ियां ने पंख फड़फड़ाए जैसे जेठ की तपती धरती पर मानसून की पहली बारिश पड़ी हो। मन ही मन उसके भीतर की बंद खिड़कियां खुलने लगीं और उसे लगा जैसे वह उड़ते परिन्दों के संग-संग क्यों नहीं उड़ पा रही ?'

इतनी छोटी सी उम्र में इसमें शेडिंग, कण्ट्रास्ट और रोशनी की समझ कैसे विकसित हुई होगी ? उसे वह चित्र याद आने लगा। घर के पिछवाड़े में फ्रॉक पहने बच्ची के चेहरे पर बैठा था सहमापन। सूखी घास पर खुरदरे पैरों से चलती बच्ची रास्ते के बड़े-बड़े पत्थरों को लांघती हुई आगे बढ़ती जा रही है - इसे मोटे धब्बों का इस्तेमाल करते हुए उभारा है। पेड़-पोधौं पर इक्का-दुक्का पक्षी तो हैं मगर कहीं भी मूवमेंट नहीं। सिर्फ उदासी की गहरी छाया। ढलती शाम के नीचे गड्ढे में सरकता सूरज और काले नीले बादलों के मटमैले धब्बे कितनी स्वाभाविकता से उभारे गए हैं। टोकरी हाथ में टांगे लड़की अपने लिए रास्ता बनाते हुए अपनी धुन में सावधानी से आगे कदम बढ़ाती चली जा रही है - जिसका शीर्षक दिया था उसने - 'एकला चलो रे।'

बस यहीं आकर अटक-भटक गई वह। कितनी गहरी सोच है इसकी। अपने में खोई इस लड़की के चेहरे पर कातरता का कोई भाव नहीं, मगर मुस्कराते होंठों के जरिए कितना कुछ कह जाती है इसकी ये बड़ी-बड़ी बोलती आंखों जिन्हें एकटक देखते हुए अनन्या के भीतर सोयी वर्षों पुरानी बच्ची जाग गई। अनायास ही वह कह उठी -

- ''दिव्या, मां का प्यार और संरक्षण पाने का हक लेकर आई हो तुम इस दुनियां में। भाग्य को दोष देने से काम नहीं चलेगा। अब तक शायद मैं अपनी ही छाया में डूबती-उतराती रही मगर आज मेरी तलाश पूरी हो गई। सभ्य, सुसंस्कृत और होनहार लड़की तो हो ही तुम, बस तुम्हें कामयाब होते देखना चाहती हूं मैं। तुम्हारी जिंदगी का ग्राफ अब तेजी से ऊपर की तरफ जाएगा। मैं तुम्हारे भीतर छिपी काबिलियत को बाहर निकालूंगी। मेरे घर की उदासी और अकेलेपन को तुम्हीं तोड़ोगी। दिव्या, तुम्हीं से शुरू होकर मेरी जीवन यात्रा तुम्हीं पर खत्म होगी यानी शून्य से तुम्हें शिखर पर ले जाना है। न जाने कब से कहां-कहां भटक रही थी मैं ? आज मेरी तलाश खत्म हुई। अब से तुम्हीं मेरे जीवन आधार बिंदु बनोगी। हां, दिव्या - अब से तुम्हारा एक नया जन्म होगा - पुनर्जन्म लोगी तुम। हां, अब से तुम्हारी मां हूं मैं, दोस्त हूं, हां, सबसे भरोसेमंद दोस्त हूं मैं। तुम्हारे 'साथ' से भर जाएगी मेरी सूनी गोद और फिर तुम्हारा साथ बनाएगा मुझे एक भरी-पूरी स्त्री। गृहस्थी के तमाम रंगों से भरी हुई संपूर्ण स्त्री के अहसास को जिऊंगी मैं। अब से अकेली की छूंछी जिंदगी का किस्सा खत्म।

चंद दिनों की औपचारिकताएं पूरा करते हुए कितना-कितना सुख महसूसती रही। इतनी गहरी तृप्ति पहली बार महसूस की। क्या हुआ जो तुम मेरे पेट से पैदा नहीं हुई - मगर तुम्हें पाकर मेरा जीवन कितने-कितने रंगों से भरता गया। दीवारों से झड़ चुके प्लास्टर की तरह झड़ी मेरी जिंदगी में अरसे बाद खुशियों ने घेरा डाला। तुम्हारे आने के बाद तो कायदे से जिंदगी की शुरूआत हो पाई। अब तक की खाली पट्टी पर तुम्हीं ने आकर पहली बार क-ख-ग लिखा। तुम्हारे आने से कितने सारे काम भी तो बढ़ते गए। तुम्हें स्कूल छोड़ना, स्कूल से लेना फिर तुम्हारा होमवर्क और तुम्हारा वो प्यारा-सा शौक। घंटो ड्राइंग बनाते रहने के तुम्हारे जुनून के चलते ही तो तुम्हें मैने एक नया नाम दिया था - 'सर्जना शाश्वत'। हमेशा रहने वाली शाश्वत और सर्जक तो तुम हो ही इसलिए नाम दिया सर्जना....। तुम्हारे साथ ने ही तो मेरे जीवन के बंद दरवाजों को एक झटके से खोल दिया था।

तुम्हारा रूठना, हंसना-रोना, मुस्कराना-तुम्हारी शिकायतें और तुम्हारे नखरों को दूने उत्साह से उठाने में सुख बटोरती रही। तुम्हारी हर ख्वाहिश पर मर-मिट जाना ही मेरे जीवन का एकलौता ध्येय बन गया। तुम्हें कक्षा में आगे बढ़ता देख मेरा सीना गर्व से चौड़ा हो उठता। गर्मियों की छुट्टी में तुम्हारे साथ पहाड़ों पर जाती तो सर्दियों में कलकत्ता-दार्जिलिंग। तुम्हारे भीतरी व्यक्तित्व को मजबूत बनाने में लगी रहती। सर्जना! तुम्हें पुर्नसृजित करने में दिन-रात घिसटती रही। मैं समय के तेज चलते चक्के पर। आसान नहीं था ये सब मगर तुम्हारी भोली सूरत देखती तो अपनी पुरानी पीछे छोड़ी दुनिया की कड़ुवी यादों को सचमुच भूलने लगी थी मैं।

एक समय था जब अविरल का 'साथ' उसका आकर्षण और प्यार बांधता था। शायद सम्मोहन जगाता था। मगर जब वह राजीव का घर छोड़कर धूप भरे आकाश के नीचे चलने लगी तो कोई भी उसके साथ नहीं था। अविरल ने बड़े हल्के-फुल्के तरीके से सलाह दी थी उसे -

- ''ले लो अपना अलग घर। मैं आता रहूंगा वहां।'' सुनकर मुंह फेर लिया था उसने। फिर महीने भर के भीतर ही जब आर्थिक समस्या मुंह बनाए खड़ी हो गई तो ऐन मौके पर कहीं नहीं था वह। एकाध बार कहीं टकराया तो चार लच्छेदार बातें बनाकर पल्ला झाड़कर निकल जाता या घरेलू खटराग का रोना शुरू कर देता। उसकी पोल खुलती गई धीरे-धीरे। मदद करने वाला 'हाथ' या 'साथ' दूर-दूर तक नहीं दिखता था। जब से उसकी परेशानियां बढ़ी तभी वह जान छुड़ाकर भागता दिखा। अब तो उसके साथ बिताए अच्छे लम्हों को भी याद करने का मन नहीं करता। पहली बार इस हकीकत को महसूस किया कि जीवन के ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर हमें अपने बल पर ही चलना पड़ता है। कोई 'हाथ' साथ नहीं देता यहां।

अंधेरी रात के साए में पापा की छवि अनन्या का मनोबल बढ़ाती। पापा लगातार हौसलाआफजाई करते। उन्होंने पैसों की भी मदद करनी चाही मगर उसका स्वाभिमान आड़े आ जाता। वे मां पर आश्रित थे फिर भी उन्होंने हमेशा उसका भरोसा बढ़ाया - 'बेटा, जीवन हल नहीं देता, सिर्फ रास्ते दिखाता है। एक रास्ते के बाद जरूर दूसरा रास्ता खुलेगा मगर तभी जब तुम चलती रहो। उसी रास्ते पर। खुशियों के स्रोत तुम्हारे भीतर छिपे होते हैं। इसीलिए अपने पर निर्भर रहो। अपने जीवन की प्राथमिकताएं खुद तय करो। जब भी, जैसा भी, जो भी रास्ता निकलता चला जाए, उस पर हालातों से भिड़ती-जूझती चलती रहो।' अनन्या, याद रखो, कुछ भी पहले से तय नहीं होता। जहां भी पहुंचा दे ये दरिया, बस बहती रहो। निर्लिप्त भाव से चलती रहो और यही है जीने की कला।'

उसके भीतर पसरी नीरवता सघन होने लगती थी। अभेद्य चुप्पी की अंधेरी दीवारों पर उफान लेती इच्छाएं दम तोड़ देती और वह अपने को ही नहीं पहचान पाती थी। ऐसे दमघोंटू, अकेलेपन के गड्ढे को मूंदा था प्यारी सर्जना ने। उसका आना उसके मन को इतना मीठा ओर घर को इतनी आभा से भर देता कि ऐसा लगता जैसे रेतीले रास्ते में मीठे पानी का

झरना मिल गया हो अनायास। इतनी ठण्डी और भीनी खुशबू वाली बयार थी वह जिसे सीने से चिपकाकर दुनिया भर के दर्द, तकलीफों और अवसाद के चमगादड़ न जाने कहां फड़फड़ाकर भाग गए। सर्जना के साथ-साथ उठना, साथ-साथ खेल खेलना, पढ़ना-लिखना और खास तौर पर ड्राइंग के तो वे दोनों ऐसे पक्के सहचर थे कि घंटों, दिनों और महीनों का हिसाब लगाना भूलती गई वह। समय को सर्जना के सबल पंख जो मिल गए थे इसलिए अपने नए आकाश में उड़ान भरते दोनों पक्षी बड़े मज़े से साथ-साथ विचरते रहे - किसी अनंत दिशा की तरफ रुख करके उड़ते रहे। ज़िंदगी ने यू टर्न लिया जहां चारों तरफ खूब सारी खिलखिलाहटें भरी थीं और नीचे बिछी थी खुशियां। एक अच्छी मां की भूमिका में उतरते ही अनन्या के भीतर से नई शख्सियत ने जन्म लिया था। बच्ची की परवरिश के साथ-साथ उसके भीतर भी एक सुन्दरवन बन जाता, जहां दिनभर थी व्यस्तताएं और शाम होते ही खुल जाते कला के नए-नए रोशनदान। फर्श पर चादर बिछाकर दोनों लोग बड़े आराम से कला की दुनिया में ऐसे घुल जाते कि न तो उन्हें टी.वी. प्रोग्राम देखने की फुर्सत मिलती और न ही आरामदायक भौतिक दुनिया अपनी तरफ खींच पाती। ऊपर से बाजारवादी चकाचौंध से लदे-फदे सामानों वाले उस घर में भीतर से खुशहाली की आभा दमकती रहती। ◆

रजनी गुप्त
18, अधिकारी आवास,
3, पी.एम. रोड, लखनऊ।

(शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास 'एक न एक दिन' में से)

मिथिलेश्वर

सातवें दशक में हिन्दी कहानी में एक नाम जिसने फणीश्वरनाथ 'रेणु' के बाद गंवई कथाकार के रूप में सब की ज़बान पर अधिकारपूर्ण कब्ज़ा जमाया। सैकड़ों कहानियां हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित। अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। अपने नए उपन्यास 'सुरंग में सुबह' से इन दिनों चर्चा में।

आजकल अपनी आत्मकथा लिखने एवं 'मित्र' के सम्पादन में व्यस्त।

संपर्क –
महाराजा हाता, कतिरा,
आरा-802301, बिहार। मो.-09431683936

दिल्ली की मेरी पहली साहित्यिक यात्रा

हां, तो वर्ष 1979 का मैं जिक्र कर रहा था। मेरे जीवन में उस वर्ष का चौथा और सबसे बड़ा सुकून 'बंद रास्तों के बीच' नामक मेरे दूसरे कहानी-संग्रह को सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित करने की घोषणा को लेकर आया। साहित्य के क्षेत्र में 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार' का बहुत महत्त्व था। रचना और विचार के स्तर पर समाज-सापेक्ष लेखन को ही यह पुरस्कार दिया जाता था। मेरे अन्दर का रचनाकार तो इस सूचना पर जैसे बल्लियों उछल रहा था। पहले कहानी-संग्रह को 'मुक्तिबोध पुरस्कार' और अब इस दूसरे कहानी-संग्रह को 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार'।

इधर घर की स्थिति भी नियंत्रित होती जा रही थी। पत्नी रेणु की ट्रेनिंग (टीचर्स ट्रेनिंग) अब समाप्ति पर थी। परेशानियों के बीच एक सिलसिला कायम करने में वह अभ्यस्त हो गई थी। इस बीच छोटा भाई कामेश्वर भी बी.एड. कर चुका था तथा जिला शिक्षा अधीक्षक, भोजपुर के यहां नियुक्ति के पैनल में उसका नाम दर्ज हो गया था। अब शीघ्र ही उसकी नियुक्ति होने वाली थी। सबसे छोटा भाई ब्रजेश्वर की बी.एस.सी. की पढ़ाई भी अन्तिम चरण में थी। मां उसकी शादी के लिए अब प्रयासरत थी। मुझसे भी बार-बार कहती — ''कहीं अच्छी जगह देख-सुन कर ब्रजेश्वर का विवाह कर दो। उसकी भी पत्नी आ जाए। अब दिन-रात उसकी निगरानी मुझसे पार नहीं लगती। न समय से खाता है और न लिखता-पढ़ता है। खाली इधर-उधर घूमता रहता है।''

लेकिन मेरा ध्यान तो अब 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार' की ओर लगा था। पारिवारिक समस्याओं की वजह से 'मुक्तिबोध पुरस्कार' लेने मैं भोपाल नहीं जा सका था। लेकिन इस बार मन ही मन उक्त आयोजन में जाने का मैंने निश्चय कर लिया था।

14 नवम्बर, 1979 को नेहरू जी की जन्म तिथि के अवसर पर दिल्ली में पुरस्कार समारोह का आयोजन किया गया था। भारत-रूस मैत्री के नाम पर यह साहित्यिक पुरस्कार दिया जाता था। पुरस्कार समिति की ओर से दिल्ली में मेरे ठहरने और खाने-पीने के साथ मार्ग व्यय के रूप में द्वितीय श्रेणी ए.सी. की सुविधा प्रदान की गई थी। इस बार मुझे जाने देने के लिए मां और रेणु ने भी कहा।

मां को पेसमेकर लगे कुछ समय हो गए थे। अब वह निश्चिंत थी। मशीन के साथ जीने की अभ्यस्त हो गई थी। उसने मुझे कहा — ''जिस क्षेत्र में तू काम करता है, वहां के बुलावे पर तुझे जाना चाहिए। तेरे नहीं जाने से तेरे बारे में लोग गलत धारणा बना लेंगे।''

रेणु भी अब पहले की अपेक्षा अपनी दिनचर्या में आत्मनिर्भर हो गई थी। अपने श्रम-संघर्ष से अपनी परेशानियों को नियंत्रित करना वह सीख गई थी। छोटी पुत्री बुली अब उतनी अबोध बच्ची नहीं रही थी। अपने पांवों पर चलने और बोलने लगी थी। बड़ी पुत्रियां पिंकी-रीनी के साथ अधिक रहते-रहते अब वह रेणु के पास जाने के लिए रोती-मचलती नहीं थीं। रेणु ने भी मुझसे कहा— ''इस बार आप जरूर जाइए। भला डाक से भी पुरस्कार लेना कोई पुरस्कार लेना होता है। पुरस्कृत होने के ऐसे अवसर नहीं छोड़ने चाहिए.....। मैं भी देखने के लिए आपके साथ चलती। पर ट्रेनिंग छोड़ कर और तीन-तीन बच्चियों को लेकर चलना संभव नहीं। लेकिन आपके साथ क्या कठिनाई! अब आपसे ही मैं पुरस्कार प्राप्ति के बारे में सुनूंगी....। यहां की कोई चिंता आप मत कीजिएगा। यहां हम ठीक से रहेंगे.....।''

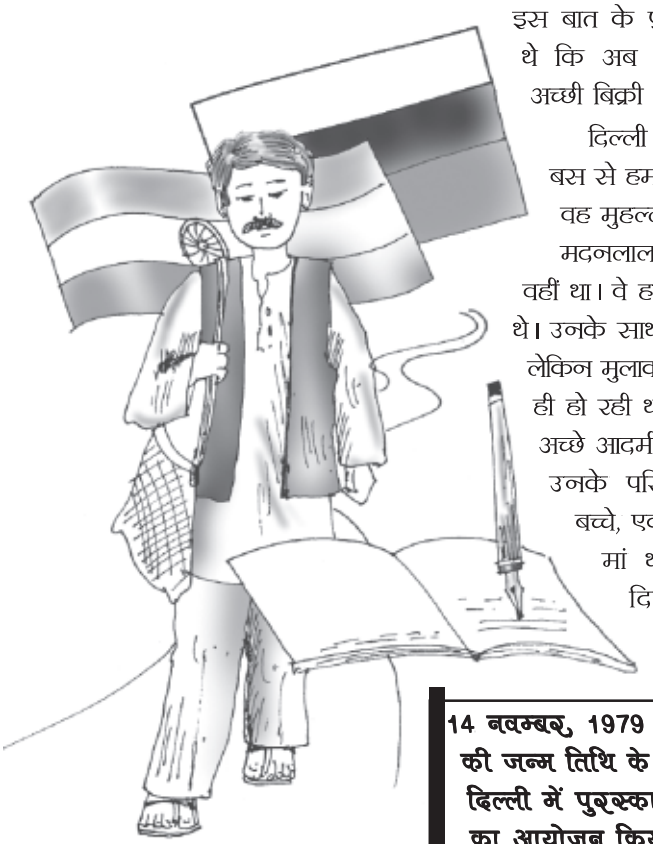

मैं तो वहां जाना ही चाहता था। मां एवं रेणु की उत्साहजनक सम्मति पा अब चल पड़ा। दिल्ली की वह मेरी पहली यात्रा थी। हालांकि आरा से दूर किसी भी बड़े शहर में मैं पहली ही बार जा रहा था। रेणु ने अपने छोटे भाई सुरेश को मेरे साथ लगा दिया। इससे मुझे बहुत खुशी हुई। अपने साले एवं सालियों में सुरेश को मैं अधिक मानता था। मेरी ससुराल में वह अकेला लड़का था जिसकी रुचि साहित्य में थी। मेरे यहां जब भी आता, मेरी पुस्तकों या पत्रिकाओं में प्रकाशित मेरी कहानियां ले जाकर पढ़ता। उस समय मैट्रिक पास कर कॉलेज में पढ़ने वाला युवक था।

दिल्ली की योजना बनाते ही मैंने तय कर लिया कि अपने प्रकाशक मदनलाल शर्मा (इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन) के यहां ही हमें ठहरना है। वहीं से पुरस्कार समारोह में भाग लेना है। उस पुरस्कार से मेरी ही तरह मदनलाल शर्मा भी प्रसन्न थे। पुरस्कार घोषणा से इस बात के प्रति वे आशान्वित थे कि अब उस पुस्तक की अच्छी बिक्री होगी।

दिल्ली जंक्शन पर उतर बस से हम कृष्णनगर पहुंचे। वह मुहल्ला जमुना पार था। मदनलाल शर्मा का आवास वहीं था। वे हमारी प्रतीक्षा में ही थे। उनके साथ मेरा पत्राचार था, लेकिन मुलाकात यह पहली बार ही हो रही थी। वह मुझे बहुत अच्छे आदमी लगे। उस समय उनके परिवार में दो छोटे बच्चे, एक बेटी, पत्नी और मां थीं। हम दो-तीन दिन उनके यहां रुके। उनके यहां

14 नवम्बर, 1979 को नेहरू जी की जन्म तिथि के अवसर पर दिल्ली में पुरस्कार समारोह का आयोजन किया गया था। भारत-रूस मैत्री के नाम पर यह साहित्यिक पुरस्कार दिया जाता था।

का पंजाबी खाना हमें बहुत अच्छा लगता था।

पुरस्कार समारोह का आयोजन दिल्ली के मवलंकर सभागार में किया गया था। सुरेश के साथ मैं वहां समय पर पहुंचा। देखा, पूरा मवलंकर सभागार फूलों से सजाया गया था। छोटे शहर के ग्रामीण परिवेश से हम चले थे, इसीलिए हमारे पहनावे भी वैसे ही थे। सामान्य पायंट-शर्ट और कंधे में लटकता खादी का झोला। उस झोले में एक-दो पत्र-पत्रिकाएं और मेरे कहानी-संग्रहों की दो-चार प्रतियां। बस ने हमें सभागार से कुछ पहले ही उतार दिया था। अब हम पैदल ही सभागार की ओर चल पड़े। मैंने देखा, सभागार के मुख्य फाटक से पैदल जाने वाले नहीं के बराबर थे। कार एवं स्कूटर सवार ही अन्दर जा रहे थे। शायद हमें पैदल और हमारे लिबास को ग्रामीण देख दरवानों को भ्रम हुआ। उन्हें लगा कि हम भूलवश इधर आ गए हैं। अब बाएं किनारे के दरवान ने हमें रोकते हुए पूछा— ''कौन हैं आप लोग ? कहां जाना है ?''

मेरे मन में तैश आया कि कह दूं— ''पुरस्कार लेने।'' फिर मुझे लगा कि यह सुन उसे और अविश्वास होगा। तब पुख्ता जानकारी के लिए वह और तहकीकात करेगा। फिर हमें और विलंब होगा। कृष्णनगर से आने के चलते हमें पहले ही विलंब हो चुका था। आयोजन में अब सिर्फ दस मिनट की ही देर थी। समय से 30 मिनट पहले हमें बुलाया गया था। बस, जल्दी से वह पत्र निकाल कर मैंने उस दरवान के सामने कर दिया, जो मुझे प्राप्त हुआ था। वह पत्र मैंने ऊपर की जेब में ही रखा था। मुझे विश्वास था कि उसे देखने के बाद वह कुछ और नहीं पूछेगा और न हमें रोकेगा ही। लेकिन उस दरवान से पहले ही एक स्कूटर सवार की नजर उस पत्र पर पड़ गई। वह हमारे करीब से ही गेट के अन्दर जा रहा था। लंबे, गोरे और घुंघराले बाल वाले उस नौजवान ने अब तत्क्षण स्कूटर रोक हस्तक्षेप किया— ''अरे, यह तो पुरस्कार विजेता का पत्र है। पुरस्कृत होने वाले व्यक्ति मिथिलेश्वर के नाम है....।'' और उसने स्कूटर किनारे लगा, पूछा— ''आप मिथिलेश्वर हैं ?''

मैंने कहा— ''हां।''

अब उसने हमें साथ ले लिया— ''चलिए सभागार के अन्दर। मैं आप लोगों को लेकर चल रहा हूं। मुझे भी उसी में जाना है।''

दरवान तो अवाक् बना अब चुपचाप देखता रहा। उस व्यक्ति ने अब हमसे पूछ — ''आप लोग कहां से आए हैं ?''

मैंने बताया— ''आरा, बिहार से।''

उसने यह जानना चाहा कि किस वजह से मुझे यह पुरस्कार मिल रहा है? मैंने संक्षेप में बता दिया। अब उसने अंतिम सवाल किया— ''आप लोग वहां दरवान से क्या पूछ रहे थे ?''

मैंने बताया — ''वह हमें रोक रहा था।''

यह सुन वह चौंक उठा— ''क्या ?'' और पलट कर उसने उस दरवान की ओर देखा। हमारी निगाहें भी अब उस ओर मुड़ गईं। वह दरवान अभी भी उसी तरह अवाक् बना हमारी ओर ताक रहा था। शायद अपनी भूल पर पछता रहा था।

अब उस नौजवान के साथ हम सभागार के अन्दर आ गए। वह सभागार मुझे अत्यन्त भव्य प्रतीत हुआ। प्रायः लोग उसमें बैठ गये थे। उस व्यक्ति ने हमें ले जाकर पुरस्कार प्राप्तकर्त्ताओं की अगली कतार में बैठा दिया और स्वयं पत्रकारों की तख्ती लगी कतार में बैठ गया। शायद राजधानी का वह पत्रकार था। अब मुझे उसकी सक्रियता और सजगता का पता भी चल गया। पत्रकार होने की वजह से ही उसकी पैनी और चौकस निगाहों ने हमारे पत्र को तत्क्षण देख लिया था। शायद सामान्य दर्शक की निगाह इतनी तीव्रता से नहीं पहुंच पाती।

समय से कार्यक्रम की शुरूआत हुई। बारी-बारी से हम पुरस्कार विजेताओं को मंच पर बुलाया गया, जहां हम अपनी-अपनी जगह पर बैठते गए। साहित्य, फिल्म और पत्रकारिता के क्षेत्र में उस वर्ष मेरे साथ उमाशंकर जोशी, डी. जयकांतन, मृणाल सेन, राजीव सक्सेना, विनोद मेहता आदि को पुरस्कृत किया जा रहा था। संभवतः मैं उनके बीच सबसे कम उम्र का था, इसीलिए संकोच महसूस कर रहा था। लेकिन वहां एक-दूसरे कारण से पूरे समय तक मेरा मन खिन्न और व्यथित बना रहा। यह देख कर मेरा मन पीड़ित और आहत रहा कि पुरस्कार समारोह के संचालन से लेकर निर्धारित वक्ताओं के सारे वक्तव्य अंग्रेज़ी में ही दिए गए। लगा ही नहीं कि हिन्दी से उसका कोई वास्ता भी हो....। मार्क्सवाद के प्रति मेरा आकर्षण उसके विचार पक्ष को लेकर था। जानता भी था कि मार्क्सवाद की मुख्य विशेषता उसका वैचारिक आधार ही है। लेकिन भाषा के मामले में वे इतने परजीवी हैं, यह उस आयोजन में ही मैंने पहली बार जाना था। वहां यह प्रश्न मेरे मन को व्यथित करता रहा कि क्या भाषा से अलग विचार अपना महत्व कायम कर सकता है ? अंग्रेज़ी भाषा जिस वर्ग की है या जिस परिवेश से आई है क्या विचार पर वह अपना असर कायम नहीं करेगी ? कोई विचार, किसी भाषा के बीच रह कर क्या उस भाषा की प्रकृति से निरपेक्ष रह सकता है ? मेरा स्वयं का उत्तर था, नहीं। यह असम्भव है....।

आज सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार प्राप्त हुए लगभग तीन दशक हो गए हैं।

उस पुरस्कार समारोह में मुझे एक आकर्षक प्रमाण पत्र, निर्धारित रकम और एक बेहद खूबसूरत मेडल प्राप्त हुआ।

लेकिन उस वक्त मेरे मन में जो सवाल खड़ा हुआ था, आज और विकट रूप में हमारे सामने मौजूद है। आज हममें से हिन्दी के हर प्रगतिशील रचनाकार के समक्ष यह प्रश्न कायम है कि विचार की उत्कृष्टता के बावजूद आज तक हिन्दी के इतने बड़े प्रदेशों में वामपंथी राजनीति ने अपनी जड़ क्यों नहीं जमाई ? इसके मूल में चाहे और जो कारण नियामक रहे हों, मेरे विचार में हिन्दी भाषा के प्रति वामपंथ की उदासीनता भी एक बड़ा कारण रहा है....।

उस पुरस्कार समारोह में मुझे एक आकर्षक प्रमाण पत्र, निर्धारित रकम और एक बेहद खूबसूरत मेडल प्राप्त हुआ। निर्धारित वक्ताओं के वक्तव्य और पुरस्कार वितरण के बाद अल्पाहार के लिए कार्यक्रम इस सूचना के साथ चंद मिनटों के लिए स्थगित हुआ कि इस पुरस्कार के उपलक्ष्य में अब प्रसिद्ध नृत्यांगना यामिनी कृष्णमूर्ति का नृत्य होगा।

इस घोषणा के बाद लोग अल्पाहार के लिए बाहर निकले। हम भी बाहर आए। मैंने सुरेश से कहा— ''हमें अब सीधे कृष्णनगर चल देना है। नृत्य नहीं देखना। हम थके हैं। अब जिनसे मिलना होगा, कल मिलेंगे।''

वैसे हम आरा से चल रहे थे तो हमारे परिचितों और सम्बन्धियों ने कहा था कि दिल्ली जा रहे हैं तो लाल किला, कुतुबमीनार और अजायबघर अवश्य देख लीजिएगा। दिल्ली के वे दर्शनीय स्थल हैं। तब उस वक्त नकारात्मक बात कह कर अपने उन परिचितों को मैं दुःखी बनाना नहीं चाहता था, जबकि दिल्ली का कार्यक्रम बनते ही मैंने तय कर लिया था कि हमारे लिए तो दिल्ली के दर्शनीय स्थल वहां के लेखकों और प्रकाशकों के घर हैं। जिस कार्य के लिए दिल्ली ने मुझे बुलाया है, वह समाज ही मेरे आकर्षण का केन्द्र है। अब इसी सोच के साथ सभागार से बाहर निकल मेरी आँखें अल्पाहार की भीड़ में भीष्म साहनी को ढूंढने लगीं। उस समय दिल्ली में उनसे मिलना हमारी पहली प्राथमिकता थी।

मुझे लगा, एक प्रसिद्ध लेखक, मार्क्सवादी चिंतक तथा प्रगतिशील लेखक संघ के एक बड़े अधिकारी के रूप में यहां अवश्य आमंत्रित होंगे। हालांकि उस वक्त तक मैं उनसे मिला नहीं था। सिर्फ पत्राचार तक ही सीमित था। हालांकि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनकी तस्वीरें देखी थीं। मुझे विश्वास था कि उन तस्वीरों से ही उन पर नज़र पड़ते ही पहचान जाऊंगा। लेकिन मुझसे पहले ही किनारे

से आकर उन्होंने बांहों में भर लिया। उनके उस स्नेहिल और जिन्दादिल स्पर्श की याद आज भी मेरे मन में ताज़ा है। वे मुझे बेहद आत्मीय लगे। इकहरे बदन के सामान्य व्यक्ति। लिबास और व्यवहार में जितनी सहजता और सरलता, चेहरे पर वैसी ही सौम्यता। मुझसे मुखातिब होते ही पूछ उठे— ''कब आए ?''

''कल।''

''कहां ठहरे हैं ?''

''कृष्णनगर में। अपने प्रकाशक के यहां।''

''कब तक रहेंगे ?''

''परसों लौट जाऊंगा।''

''तो कल मेरे यहां दिन के खाने पर आ जाए। हम साथ-साथ खाएंगे। उसी वक्त इतमीनान से बात भी करेंगे।''

इसके बाद भीष्म साहनी का ध्यान कुछ दूसरे लोगों ने अपनी ओर केन्द्रित कर लिया। शायद दिल्ली के उनके परिचित लेखक थे। अब मुझे भी कुछ पत्रकारों और नए लेखकों ने घेर लिया। उनमें से अधिकांश इस बात के लिए ही मुझे शाबाशी दे रहे थे कि मैं तो अभी एकदम युवा और नया हूं। इस अवस्था में ही मैंने यह पुरस्कार प्राप्त कर लिया। वे प्रमाण पत्र और मेडल को देखते। उनमें से अधिकांश लोग मेरा विस्तृत परिचय ले रहे थे। उनके बीच से सिर्फ दो लोगों ने ही पूछा— ''इस पुरस्कार पर आपकी प्रतिक्रिया क्या है ?''

मैंने संक्षिप्त जवाब दिया— ''और सब तो ठीक है, लेकिन पूरे आयोजन में जो भाषा छायी रही, वह मुझे बिल्कुल नहीं जंची....।''

लेकिन मेरे इस जवाब को उन पत्रकारों ने भी कोई तवज्जो नहीं दी। संभव है, मेरे लिबास और भोजपुरी लहजे की मेरी बात सुन उन्हें लगा हो कि मैं अंग्रेज़ी नहीं जानता या संभव है, उसी भाषा में उस पुरस्कार का आयोजन वे देखते आ रहे हों। जो हो, अब अल्पाहार की भीड़ नृत्य का आनंद लेने के लिए पुनः सभागार में प्रवेश करने लगी थी। बस, अवसर अनुकूल समझ हम कृष्णनगर की ओर भाग चले।

दूसरी सुबह तैयार होकर हम सरस्वती विहार प्रकाशन चल पड़े जहां अपना पहला उपन्यास 'झुनिया' प्रकाशानार्थ भेजा था। भीष्म साहनी के यहां दोपहर के खाने पर वहीं से जाने का हमने निर्णय कर लिया था। मेरे साले सुरेश का कहना था— ''भाई साहब! जहां आपकी किताब छप रही हो वहां तो हमें अवश्य चलना चाहिए.....।''

सरस्वती विहार प्रकाशन शाहदरा में था। हिन्द पॉकेट बुक्स का ही वह सहयोगी प्रकाशन था। प्रकाशक दीनानाथ मल्होत्रा बहुत उत्साह से मिले — ''पुरस्कार के लिए बधाई! कल पुरस्कार समारोह में मैं आने वाला था। मुझे पता था, आप आ रहे हैं। लेकिन एक ज़रूरी काम में ऐसा व्यस्त हो गया कि नहीं आ सका। आज सुबह समाचार पत्रों में विस्तृत खबर देख ली है.....।''

अब वही मैंने कुछ समाचार पत्र भी देखे, जिनमें 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार' की विस्तृत रपटें थीं। लेकिन उनमें कहीं भी अंग्रेज़ी भाषा में संपन्न हुए उस कार्यक्रम की आलोचना नहीं थी।

दीनानाथ जी ने अब मुझे यह सुखद सूचना दी कि मेरी पुस्तक 'झुनिया' का प्रकाशन अंतिम चरण में है। दो माह के अंदर ही पुस्तक आ जाएगी। मैं समझ गया, सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार का ही यह त्वरित चमत्कार है। वैसे तो 'मुक्तिबोध पुरस्कार' से ही इस बात का एहसास मेरे मन में हो गया था कि पुरस्कार से चाहे और कुछ हो या नहीं, उस लेखक के प्रति पाठकों और प्रकाशकों का आकर्षण तो पैदा हो ही जाता है।

दीनानाथ मल्होत्रा से मिलकर अब हम सीधे भीष्म साहनी के यहां चल पड़े। शाहदरा से भीष्म जी का निवास ईस्ट पटेल नगर काफी दूर था। हम चाहते हुए भी बीच में किसी और से नहीं मिल सकते थे। भीष्म जी के यहां हमें खाने से कुछ पहले पहुंच जाना था। लेकिन जिस ऑटो पर हम चढ़े थे, खराबी के चलते वह रुक-रुक कर आगे बढ़ती थी। इस स्थिति में हम समय से पहले नहीं पहुंच सके....।

ऑटो से उतर सुरेश के साथ जब मैं भीष्म जी के घर पहुंचा, उन्हें प्रतीक्षारत पाया। उनका वह घर राजधानी दिल्ली की चकाचौंध से दूर मुझे ऐसा और ऐसे स्थल पर जाना पड़ा, जैसे मेरे शहर आरा के ही किसी मुहल्ले का घर हो। कोई आलीशान कोठी कहीं, एक सामान्य-सा घर। घर के आगे छोटी-सी चाहरदीवारी के भीतर आम का एक घना पेड़। ग्रामीण और कस्बाई घरों के दरवाजों पर लगे पेड़ों की भांति। बाद के दिनों में उस पेड़ पर भी भीष्म जी की एक मार्मिक कहानी मुझे पढ़ने को मिली थी। वह मुहल्ला और भीष्म जी के घर के आसपास की गलियां भी छोटे शहर और कस्बे की पहचान से जुड़ी थीं। उस वक्त भीष्म जी और उनकी पत्नी शीला जी ही घर पर थे। पुत्री कल्पना और पुत्र वरुण बाहर थे। मुझे भीष्म जी के आदर्श दाम्पत्य जीवन की जानकारी थी। वे अपनी पत्नी को ही अपनी पाठिका, प्रेमिका और जीवन संगिनी तीनों मानते थे। परस्पर सहयोग और विश्वास पर आधारित उनके दाम्पत्य प्रेम की झलक भी मैंने वहां देखी जब खाने की मेज पर भीष्म जी ने बताया कि ''रोटी-दाल शीला का बनाया है, और सब्जी-सलाद मेरा....।''

खाने के बाद भीष्म जी हमें अपने उस कमरे में लेकर बैठ गए जहां वे लिखते थे। फिर बातों पर बातें निकलती चली गईं। उनकी बातों से ही उनके व्यक्तित्व के इस विलक्षण पक्ष से मैं अवगत हुआ कि वे जितना लिखते थे, उससे अधिक पढ़ते थे। हिन्दी के नए से नए रचनाकारों को उन्होंने पढ़ रखा था तथा विश्व प्रसिद्ध कृतियों से भी अवगत थे। मुझे पता था, उस समय वे दिल्ली के एक कॉलेज में अंग्रेज़ी के प्रोफेसर थे। विश्वस्तर की कई कृतियों का सफल हिन्दी अनुवाद भी उन्होंने किया था। साहित्य की स्तरीयता और लोकप्रियता दोनों की गहन जानकारी उन्हें थी। शायद इसीलिए साधारण भाषा और शैली-शिल्प में असाधारण महत्व का साहित्य वे रचते थे।

समय तेजी से व्यतीत होते देख भीष्म जी से विदा ले अब हम चल पड़े।

मैंने बड़ों के आगमन पर छोटों द्वारा उनका आतिथ्य देखा था। आतिथ्य की यह प्रचलित परंपरा भी थी। पर वहां पहली बार छोटे के आगमन पर बड़े के आतिथ्य को न सिर्फ देखा, बल्कि महसूस भी किया। संभवतः वैसे ही गुणों ने भीष्म साहनी व्यक्तित्व को अपेक्षित ऊंचाई प्रदान करते हुए उन्हें अजातशत्रु बनाया था।

भीष्म जी के यहां से अब हमें यमुना पार कृष्णनगर पहुंचना था। उसकी लंबी दूरी और समय का एहसास कर हमने तय किया, अब अगले दिन ही किसी से मिलना हो सकेगा। उसी दिन मैंने लक्ष्य कर लिया था कि दिल्ली इतनी दूर में बसी है और विस्तार लेती जा रही है कि आरा-पटना जैसे एक ही दिन में अनेक स्थलों पर हम नहीं पहुंच सकते और अनेक मित्रों से नहीं मिल सकते। अब तो दिल्ली की वह दूरी और बढ़ गई है। इधर 28 जुलाई, 2006 को एन.एस.डी. के 'श्रुति' कार्यक्रम में कथा पाठ के लिए दिल्ली पहुंचा तो इस दूरी को और बढ़ते पाया। एन.एस.डी. ने फिरोजशाह मार्ग में स्थित अपने गेस्ट हाउस में मुझे ठहराया था। वहां से कमलेश्वर जी से मिलने उनके निवास ईरोज गार्डन, सूरज कुण्ड पर जाते हुए मुझे लगा कि दूरी समाप्त ही नहीं हो रही है। मेरे साथ पत्नी रेणु, कथाकार-आलोचक कृष्ण कुमार और कवि विश्वरंजन जी भी थे। मुझे लगा कि दिल्ली की सीमा हम पार कर चुके और अब जंगल से गुजर रहे हैं। भवन और अट्टालिकाओं का सिलसिला खत्म हो चुका था। मैंने विश्वरंजन जी से कहा— ''दिल्ली तो पीछे छूट गयी। हम इतनी दूर आगे आ गये। कमलेश्वर जी का घर दिल्ली से बाहर है क्या ?''

जवाब में उन्होंने मुझे आश्वस्त किया— ''नहीं। यह दिल्ली ही है। दिल्ली ने इतना विस्तार ले लिया है कि अब चाहते हुए भी हम जल्द किसी के यहां नहीं पहुंच सकते।''

मेरे मित्र विश्वरंजन जी उस समय दिल्ली में ही पदस्थापित थे। अब मैंने सड़क के दोनों किनारे जंगल जैसे घने पेड़ों को देख कर पूछा— ''और दिल्ली के बीच में यह जंगल।''

इस पर उन्होंने मुझे बताया— ''यह जंगल नहीं है। दिल्ली की यही विशेषता है। विश्व का सबसे हरियाली वाला महानगर दिल्ली ही समझा जाता है....।''

लेकिन जब हम कमलेश्वर जी के यहां पहुंचे तो ऐसा लगा कि एक नगर से दूसरे नगर में आ गए हों। निरंतर विस्तार लेती दिल्ली की यह बढ़ती सीमा है। इसका एहसास मुझे 1979 के सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार के अवसर पर ही हो गया था।

उस दिन भीष्म साहनी के यहां से कृष्णनगर पहुंचते-पहुंचते रात हो गई। अगले दिन हमें आरा लौट जाना था। लेकिन हमारी गाड़ी रात में थी। अब अगली सुबह एकदम तड़के ही हम तैयार हो गए। हमने तय कर लिया, ट्रेन के समय से पहले जितना संभव हो सके, उतने मित्रों से हमें मिल लेना है। पता नहीं, अपने खर्चे से हम दिल्ली फिर कब आ सकेंगे। पुरस्कार के इस अवसर का हमें पूरा सदुपयोग करना चाहिए। निरंतर लिखते-छपते हुए दिल्ली के अनेक लेखकों और प्रकाशकों से मेरा पत्राचार था। मेरी सूची लंबी थी। लेकिन समयाभाव में अधिक जगह जाना संभव नहीं था। अपनी सूची में देखा, दरियागंज एक ऐसी केन्द्रीय जगह नजर आयी जहां एक साथ कई लोगों से मिला जा सकता था। अब हम सीधे दरियागंज पहुंचे।

दरियागंज में अपनी शुरूआत हमने राजेन्द्र यादव से की। उनसे मेरा पत्राचार था। उस समय 'हंस' जैसी कोई पत्रिका उनके पास नहीं थी। एक लेखक और अक्षर प्रकाशन के प्रकाशक के रूप में जाने जाते थे। जब हम उनके अक्षर प्रकाशन कार्यालय पहुंचे, एक युवा और खूबसूरत लड़की वहां मिली। उसने बताया— ''अपने निवास से राजेन्द्र जी अभी नहीं आए हैं।''

फिर उसने हमारा परिचय लिया और कहा— ''वे जल्द ही आ जाएंगे। आप लोग बैठिये।''

वह लड़की अब हमें चाय पिलाना चाह रही थी। लेकिन हमने रोक दिया — ''राजेन्द्र जी को आ जाने दीजिए। उनके साथ ही पी लेंगे।''

वह लड़की मुझे युवा और सुन्दर के साथ-साथ मिलनसार भी लगी। शायद राजेन्द्र जी के अक्षर प्रकाशन में काम करती थी। राजेन्द्र जी जल्द ही आ गए। अधिक देर तक प्रतीक्षा करनी नहीं पड़ी। उनसे भी वह मेरी पहली ही मुलाकात थी। भीष्म साहनी से मिलने के बाद मैं उनके व्यक्तित्व से पूरी तरह प्रभावित था। शायद उसी आलोक में राजेन्द्र यादव को भी पाना चाहता था। लेकिन यह उस समय मेरी नई साहित्यिक समझ की भूल थी। राजेन्द्र जी तो राजेन्द्र जी थे, भीष्म साहनी नहीं....।

सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार के लिए उन्होंने मुझे बधाई दी। इसके बाद मजाकिया लहजे में ही साहित्य के विभिन्न प्रसंगों पर चर्चा शुरू की। साहित्य को गंभीरता से लेने वाले मेरे मन को उनकी वह चर्चा बांध न सकी। वे मुझे खूब बातूनी भी जान पड़े। अपनी बातों में वे हमें अभी ठहराये रखना चाहते थे। लेकिन हमारा ध्यान तो शाम की अपनी गाड़ी पर केन्द्रित था। अभी कई लोगों से हमें मिलना भी था। बस, हम वहां से चल पड़े।

अब हम दरियागंज स्थित टाइम्स ऑफ इण्डिया कार्यालय पहुंचे। वह नज़दीक ही था। वहां कन्हैया लाल नंदन और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना से मेरी मुलाकात हुई। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना से बात करते हुए मैंने अनुभव किया कि हमारे समय, समाज और साहित्य पर उनकी राय बेबाक है। उनके विद्वतापूर्ण तर्कों ने मुझे काफी प्रभावित किया। वे मुझे विलक्षण और तेजस्वी व्यक्ति जान पड़े। उन्होंने बिहार के बारे में मुझसे पूछा। अपनी जानकारी के तहत मैंने उनके प्रश्नों का उत्तर दिया। सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार पर अंग्रेजी भाषा से संबंधित मेरी आपत्ति पर उन्होंने कहा— ''अपनी अनुभूतियों को एक छोटे आलेख

के रूप में मुझे भेज दीजिएगा। यहां से हम उसे प्रकाशित कर देंगे.... ।''

उस समय सर्वेश्वर दयाल सक्सेना टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रकाशन समूह में ही कार्यरत थे। लेकिन आरा लौटने के बाद दूसरी व्यस्तताओं में फंस वह लेख मैं तत्काल नहीं लिख सका। कुछ समय बीत जाने के बाद तो उसे लिखने का दबाव कम महसूस करते हुए महटिया गया।

उस दिन टाइम्स ऑफ इण्डिया कार्यालय के बाद हम नेशनल पब्लिशिंग हाउस पहुंचे। वह भी वहीं पर था। नेशनल पब्लिशिंग हाउस के प्रकाश क.ल. मलिक बहुत उत्साह से मिले। मेरे पुरस्कृत होने की सूचना से वे अवगत थे। उन्होंने हमें मिठाइयां खिलायीं और चाय पिलायी। हम चलने लगे तो उन्होंने जोर देकर कहा— ''अब जो भी नई किताब तैयार हो हमें भेजिएगा।''

मैं वजह समझ रहा था। लेकिन दिल्ली के एक बड़े प्रकाशक के इस आमंत्रण से खुश था। संभवतः क.ल. मलिक से उस मुलाकात ने ही एक लेखक और एक प्रकाशक के रूप में हमारे सम्बन्ध विकसित किए। बाद में नेशनल पब्लिशिंग हाउस से क्रमशः मेरी यह पुस्तकें प्रकाशित हुई।

उस दिन क.ल. मलिक से मुलाकात के बाद मैंने अनुभव किया, हमारे पास अब समय कम है। इस स्थिति में अपनी उस दिल्ली यात्रा की आखिरी मुलाकात राजकमल प्रकाशन की शीला सन्धू से करना हमने उचित समझा। राजकमल प्रकाशन के महत्त्व से मैं परिचित था। शीला सन्धू ने उसे हिन्दी जगत में प्रतिष्ठित किया था। उस समय राजकमल प्रकाशन से छपना श्रेष्ठ लेखक होने का परिचायक था।

जब हम राजकमल प्रकाशन पहुंचे, वहां निर्मल वर्मा आये हुए थे और शीला जी के कक्ष में उनके साथ बैठे थे। वे राजकमल प्रकाशन के मान्य लेखकों में से थे। हम पहले निदेशक सत्य प्रकाश जी से मिले। उन्होंने बताया कि शीला जी, निर्मल जी से कोई ज़रूरी बात कर रही हैं। फिर सत्य प्रकाश जी ने ही शीला जी को हमारे आने की सूचना दी। यह भी कहवा दिया कि हम आज ही शाम लौटने वाले हैं। अब इस सूचना पर शीला जी हमसे तत्काल मिलीं। हालांकि उनके कक्ष में हमारे पहुंचते ही शीला जी से पहले निर्मल वर्मा ही बोल उठे— ''आप ही मिथिलेश्वर हैं। सोवियत एवार्ड के लिए बधाई। 'धर्मयुग' में आपकी एक कहानी 'बाबू जी' मुझे लीक से हट कर अच्छी लगी थी।''

निर्मल वर्मा से भी वहां मैं पहली बार ही मिल रहा था। एकदम गोरा रंग। गोल-मटोल चेहरा। पहली नजर में वे मुझे भारतीय कम, कोई विदेशी लेखक ज्यादा जान पड़े। लेकिन अब तत्क्षण शीला जी मेरी और मुखातिब हो गयीं — ''किस पुस्तक पर आपको यह सम्मान मिला है?''

''बंद रास्तों के बीच पर।''

''किस विधा की पुस्तक है ?''

''कहानी-संग्रह।''

इसके बाद शीला जी क्षण भर के लिए चुप हो गईं। मुझे लगा, शायद यह सोच रही हों कि अब और क्या पूछें ? लेकिन अब मैंने ही अपने मन की बात कह दी — ''मेरी इच्छा है कि मेरी नई पुस्तकें अब राजकमल प्रकाशन से भी प्रकाशित हों।''

इस पर उन्होंने कहा— ''कोई अच्छी कृति तैयार हो तो भेजिएगा। हम ज़रूर देखेंगे।''

मैं लक्ष्य कर रहा था, निर्मल वर्मा के साथ उनकी बातचीत अभी पूरी नहीं हुई थी। अब हम चल पड़े। हमारे पास अब रुकने का समय भी नहीं था। अभी हमें कृष्णनगर पहुंच कर अपने सामान समेटने थे और स्टेशन भागना था।

शीला जी से उस मुलाकात के अब लगभग 27 वर्ष बीत गए। इस बीच राजकमल प्रकाशन से मेरी आधा दर्जन पुस्तकें आ चुकी हैं। राजकमल का स्वामित्व आज अशोक महेश्वरी के जिम्मे है। लेकिन राजकमल से शीला जी ने ही मुझे जोड़ा था। अब अशोक महेश्वरी का भी वही लगाव मैं महसूस करता हूं।

राजकमल प्रकाशन में निर्मल वर्मा से मेरी वह पहली मुलाकात ही आखिरी मुलाकात भी साबित हुई। फिर कभी उनसे मिलने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। लेकिन जब सन् 2003 में 'मित्र' नामक एक पत्रिका के प्रकाशन की मैंने योजना बनायी और उसके प्रवेशांक के लिए निर्मल वर्मा की रचना आमंत्रित की तो उनका आत्मीय सहयोग मुझे प्राप्त हुआ। उन्होंने समय से अपनी एक ताज़ा रचना भेज दी। फोन पर राजकमल प्रकाशन में उस पहली मुलाकात का भी उल्लेख किया। उनकी स्मरण शक्ति देख मुझे खुशी हुई। निर्मल वर्मा से उस मुलाकात की याद अब भी मेरे मन में ताज़ा है।

पुरस्कार लेकर हम दिल्ली से वापस आ गये। इस यात्रा ने मेरे रचनाकार को और जीवंत कर दिया। सुरेश भी इस यात्रे से काफी खुश था। उस समय तो दिल्ली से आरा आने के बाद मुझे ऐसा लगने लगा था कि साहित्य की आकर्षक और मनोरम दुनिया से निकल अब पुनः जीवन के खुरदरे यथार्थ के बीच आ गया हूँ। इसके बावजूद दो-चार दिनों तक मेरा मन दिल्ली के उन मोहक साहित्यिक प्रसंगों में ही रमता रहा। उन बातों को रेणु और अपने परिवारजनों से मैं सुना चुका था। आरा के अपने मित्रों से भी कह चुका था। फिर भी बात चलने पर पुनः-पुनः कहता रहा था। लेकिन परिवारगत यथार्थ के दबाव के समक्ष देर तक मैं उस दुनिया में नहीं रह सका। जल्द ही ब्रजेश्वर की शादी के बढ़ते आग्रह ने परिवार की इस समस्या की ओर मेरा ध्यान केन्द्रित कर दिया। ◆

(शीघ्र प्रकाश्य आत्मकथा का एक महत्त्वपूर्ण अंश)

राजेन्द्र यादव

बहुचर्चित, बहु विवादित, इसके बावजूद अति प्रतिष्ठित रचनाकार। राजेन्द्र यादव का जन्म 28 अगस्त 1929 को आगरा में हुआ। आगरा विश्वविद्यालय से सन् 1951 में हिन्दी में प्रथम श्रेणी, प्रथम स्थान के साथ। कुछ समय के लिए नौकरी और फिर स्वतंत्र रूप से लेखन। पहला उपन्यास, 'प्रेत बोलते हैं' जो बाद में 'सारा आकाश' के नाम से प्रकाशित होकर चर्चा का ऐसा विषय बना जिस पर आज भी चर्चा होती है। 'कुलटा', 'शह और मात', 'अनदेखे अनजाने पुल', 'जहां लक्ष्मी कैद है', 'छोटे-छोटे ताजमहल' के अलावा सैकड़ों कहानियां तथा महत्त्वपूर्ण विदेशी लेखकों की रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद। 1986 से 'हंस' के सम्पादक। याद रहे कि 'हंस' के संस्थापक मुंशी प्रेमचंद थे। राजेन्द्र यादव ने इस पत्रिका को पुनरजीवित किया। प्रस्तुत कहानी 'संबंध' लेखक ने सम्पादक के स्नेहपूर्ण आग्रह और निवेदन पर दी है। 'संबंधों' की हकीकत क्या है, इस कहानी में देखें।

संपर्क—
2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली।

संबंध

शायद मरते वक्त वह खिलखिलाकर हँसा था, मन में पहला विचार यही आया। बाकी खोपड़ी कुछ इस तरह से जलकर काली पड़ गई थी, और आसपास की खाल कुछ ऐसे वीभत्स रूप से सिकुड़ी हुई थी कि सिर्फ़ बत्तीसी की सफ़ेदी ही पहली निगाह में दीखती थी और बाकी चेहरा न देखो तो यही भ्रम होता था कि वह हँस रहा है। शायद 'ममी' का चेहरा भी ऐसा ही लगता होगा।

गेरू-पुती उस बिल्डिंग के बरामदे और फिर काली सड़क पर लोगों की भनभनाहट गुंथकर चंदोवे की तरह तन गई थी, जिसे संबंधियों और परिवार वालों का रोना-पीटना खंभों की तरह ऊपर उठाए था। सभी कोई चंचल और आंदोलित थे, लेकिन एक सकते से स्तब्ध। मैं पीछे वालों का आग्रह झेलता हुआ गर्दन ताने बीच के गोले में झांकते रहने में सफल हो गया था। लाल पत्थर की पेटियों वाले फर्श पर बीचों बीच सफ़ेद चादर से ढंकी वह लाश लेटी थी। चादर पर जगह-जगह ख़ून और तेल के दाग़ लगे थे और वह मैली थी। अभी कोई अठारह-बीस साल की युवती उस पर दहाड़ मार कर रोते हुए गिरी थी और इससे विचलित होकर कुछ दुर्बल-हृदय मुँह मोड़कर भीड़ से बाहर निकलने के लिए छटपटाए थे, तभी मौका देखकर मैं भीतर घुस गया था। उस समय दो-तीन औरतें उसे, जो साफ़ ही मृतक की पत्नी थी, गोद में भरकर उस लाश से अलग कर रही थीं, इस प्रयत्न से चादर खिंच गई थी और लाश का चेहरा दिखने लगा था, जिसे पास ही उकड़ूं बैठे दो व्यक्तियों ने फिर ठीक कर दिया था। चादर की सिकुड़नें ठीक होते ही टूटी गहरी कत्थई चूड़ियों के टुकड़े सरककर लाश की अगल-बगल ज़मीन पर आ गिरे थे। चादर की बुनाई के रेशों में फैलकर कई सुर्ख दाग़ निहायत बेढंगे हो गए थे और यह जान पाना मुश्किल था कि चूड़ियों के टूटने से, कलाई से निकले ख़ून के हैं, सिंदूर है या लाश के शरीर से निकले रक्त के पहले के दाग़ हैं।

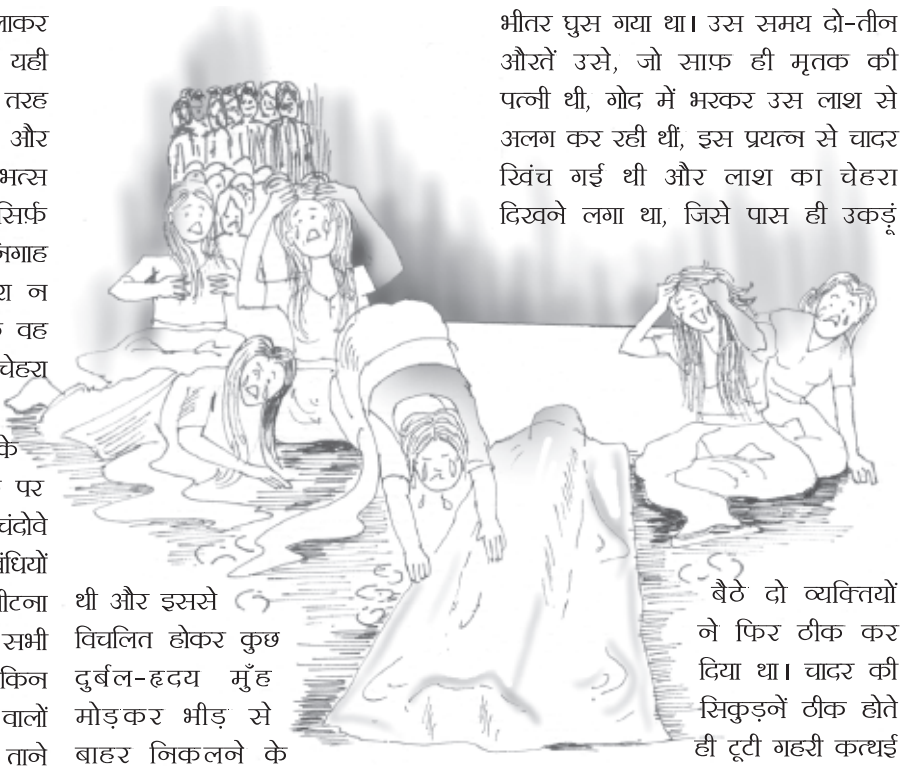

चादर पर जगह-जगह ख़ून और तेल के दाग़ लगे थे और वह मैली थी। अभी कोई अठारह-बीस साल की युवती उस पर दहाड़ मार कर रोते हुए गिरी थी

छूकर देखने से पता चलता कि ताज़े हैं या पुराने; देखने में ताज़े ही लगते थे।

...या तो मरते वक्त यह खिलखिलाकर हँसा था या हँसते-हँसते मरा था, मैं अभी भी यही सोच रहा था। लेकिन दोनों में से एक भी बात की संभावना नहीं थी। स्तब्ध और चुप रहकर देखता रहा। वीभत्स और भयानक का भी अपना एक सम्मोहन होता है, ठीक अश्लीलता की तरह — मन की बनावट और संस्कार विद्रोह करते रहते हैं, लेकिन कुछ है जो बांधे रहता है। आतंक, आशंका या दृश्य की भयानकता के कारण एक मितली-सी बार-बार उठकर गले तक आ जाती थी... लेकिन लगता था, जैसे बाहर के दृश्य का सारा अरुचिकर मेरे भीतर उतर आया है और दिमाग़ में एक के ऊपर एक काटती आवाज़ें एक के ऊपर एक फेंकी जा रही हैं — विभिन्न कोणों से फेंके भालों की तरह...

''हटो, हटो.... इस तरह लदे क्यों आ रहे हो ?'' कभी-कभी कोई सिपाही, सफ़ेद लंबा कोट पहने अस्पताल की नर्स या कोई नीली वर्दीधारी कर्मचारी डांटकर भीड़ को, पीछे ठेल देता.... भीड़ एक औपचारिक ढंग से पीछे हटती और फिर वही दमघोंटू घेरा संकरा होने लगता।

दोनों घुटनों पर कुहनियाँ रखे, सामने की ओर हाथ फैलाए बैठी सूनी भावहीन नज़रों से कहीं भी न देखता आदमी या तो लाश का बाप है या पंद्रह-बीस वर्ष बड़ा भाई, यह किसी के बताए बिना भी साफ़ था। सांवले चेहरे पर सफ़ेद-सफ़ेद झाग-जैसे बाल थे, यानी हजामत कई दिनों से नहीं बनी थी और मटमैली आँखों में लाल डोरों का जाल था, नीचे के पपोटों में गोलियाँ-जैसी लटक आई थीं। सिर पर खिचड़ी बालों के बीच छोटा-सा गंज-द्वीप था, चेहरे पर ख़ून नहीं था। कमीज़ और धोती पहने इस तरह बैठा था, जैसे कोयलों के जल जाने के बाद राख का आकार रह गया हो और ज़रा छूने से ही ढह जाएगा।

''पाँच साल पहले इसका बड़ा लड़का पानी में डूबकर मर गया था....।'' किसी ने बताया, ''क्या क़िस्मत का खेल है....! दो लड़के थे और दोनों ही नहीं रहे....।'' अब मेरी समझ में आया कि वह बाप ही है। किसी दफ़्तर में हैड-क्लर्क है।

''हाय....हाय....!'' सुनने वाले ने बड़ी गहरी सांस ली, ''हे भगवान, कैसी मिट्टी बिगड़ी है बुढ़ापे में, रिटायर होने में पाँच-सात साल होंगे....।''

मैं भी यही सोच रहा था। पूछा, ''लड़के की उम्र क्या थी ?''

''अजी कुछ भी नहीं, मुश्किल से बाईस-तेईस साल का होगा... पिछले जाड़ों में ही तो गौना हुआ था....।'' सफ़ेद छल्ले वाले माइनस-सात के काँचों में आँखें मिचमिचाकर उस व्यक्ति ने बताया। ज़रूर चश्मा उतारने के बाद उसे तलाश करने में इसे बहुत दिक्कत होती होगी।

पता नहीं, इन लोगों का मानसिक स्तर कैसा है, विधवा-विवाह करेंगे भी या नहीं ? इनका पता ले लें तो बाद में विधवा-विवाह के तर्क में कोई अच्छी-सी किताब पोस्ट से भिजवाई जा सकती है। मैंने सोचते हुए मानो इसी निगाह से बीच की खुली जगह के किनारे एक बुढ़िया की गोद में पड़ी बहू को देखा, उसकी साड़ी ज़मीन पर बिखरी थी, हरे ब्लाउज़ के बटन खुल गए थे, लेकिन उसे शायद होश ही नहीं था.... चेहरे पर पसीने, आँसुओं और बिखरे बालों का ऐसा गुंजलक चिपक गया था कि पता ही नहीं लगता था— मुँह नीचे की ओर है या ऊपर.... बुढ़िया ने उसे इस तरह गोद में भर रखा था कि जैसे वह छूटकर फिर लाश पर जा गिरेगी.... बाद में यही बुढ़िया इसे गालियाँ दिया करेगी, बर्तन मंजवाएगी और कपड़े धुलवाएगी। मेरा अनुमान ग़लत था।

मां ज़मीन पर सिर फोड़-फोड़कर रो रही थी और देवी चढ़ आने पर झूमने वाली चुड़ैल जैसी लगती थी, सारे वातावरण में उसी की बोली लगातार और ऊंचे स्वर में सुनाई पड़ती थी, बाकी बोलियाँ किधर से आ रही थीं, यह जानना मुश्किल था। उसका गला बैठ गया था और उसकी आवाज़ से कभी-कभी कुत्ते और गाय की बोली का भ्रम होता था, ''हाय... हाय, अब मैं किसके लिए जिऊँगी... इस बिचारी को किसके लिए छोड़ गया बेटा.... इनसे कहा था— रुपये दे आओ, रुपये दे आओ, अब रुपयों को छाती पर रखकर ले जाना... अरे, मेरे जवान-जमान बेटे को चीर डाला इन डॉक्टरों ने.... अरे इनके बेटे भी इनकी आँखों के सामने यों ही मरेंगे....'' वह लंबी लय के साथ रो रही थी। मैंने सोचा, ये औरतें रोते हुए गाती हैं और गाने में रोने की बातें करती हैं।

तभी किसी बड़ी-बूढ़ी ने उसे टोक दिया, ''अरी, पता नहीं किस जनम के सराप का फल तो तुम अब भोग रहे हो कि ज्वान-जमान बेटे यों उठ गए। अब क्यों किसी को कोसती हो ? ज़रा-सा धीरज धरो।''

''अरे, मैं कहाँ से धीरज धरूं.... ? मेरे दोनों पाले-पनासे बेटे चले गए.... हाय, हाय ज़रा इंजेक्शन लगवाओ, अभी तो सांस बाक़ी है..... अब कौन सुबह उठकर जलेबी की ज़िद करेगा.... कौन मेरे हाथ-पांव दबाकर सिनेमा के पैसों के लिए ख़ुशामद करेगा.... अभी तो शादी की हल्दी भी बदन से नहीं उतरी है....'' और उसने फिर झपटकर चादर के नीचे से लाश का काला पड़ा हुआ हाथ निकाल लिया और उसे अपनी छाती से चिपकाकर ज़मीन पर बिखर-बिखरकर रोने लगी...

लाश पर एकाध आदमी यों ही हाथ से हवा कर देता था, जैसे मक्खियों को हटा रहा हो। फैलती बदबू से लगता था कि कई दिनों पहले मरा है। मैंने मन को दिलासा दिया कि बेचारी मां का दिल है, उसे तो एक-एक बात याद आएगी ही और वह यों ही ज़िंदगी-भर रोएगी। आसपास की दो-एक औरतें लय बांधकर रोने के बीच में ही कभी-कभी बोल देती थीं, ''अरे, मुझसे आकर बोला था-चाची, बहुत दिनों से तुम्हारे हाथ का सरसों का साग नहीं खाया है..... हाय, अब मैं किसे खिलाऊँगी.....'' मैंने सोचा, घर के रोने वाले लोग काफ़ी कम हैं। शायद अभी सब लोगों तक ख़बर नहीं पहुँची है या हो सकता है, ये ही इस नगर में नए

हों.... अभी तो मुहल्ले-पड़ोस के लोग ले-दे भागे आ रहे हों.... शायद तय नहीं कर पाए होंगे कि कौन-से कपड़े पहनें, पीछे कौन रहे या किसका वहाँ होना ज़्यादा ज़रूरी है, अस्पताल जाएँ या सीधे श्मशान ही पहुँचे। कपड़ा ढंकी लाश कैसी आतंकास्पद लगती है... मैं ज़रा पीछे हट आया, एक तो पीछे के दबाव को संभालना कठिन हो गया था, दूसरे, बहुत देर खड़े रहने से घबराहट होने लगती थी.... मान लो, लाश की जगह मैं होता तो आसपास, रोने वालों में कौन-कौन होते ? इस विचार से सामने के ग़मगीन लोगों के चेहरों की जगह मुझे अपने एक-एक परिचित का चेहरा याद आने लगा, कल्पना बहुत ही कष्टदायी लगी। मैंने सोचना बंद कर दिया और बाहर निकलकर जल्दी-जल्दी सिगरेट पीने लगा।

''यों समझो, गोद-गोदकर मारा है।'' भीड़ के बाहरी सिरे पर अस्पताल का जमादारनुमा आदमी बता रहा था।

''लेकिन बदन तो ऐसा काला पड़ गया है जैसे जल गया हो!'' किसी ने पूछ लिया।

''अरे, धूनी दी होगी। ऊपर पेड़ से लटकाकर नीचे से आग जला देते हैं। देखा नहीं, चेहरा कैसा बैंगन की तरह जल गया है!'' तीसरे ने बताया।

''सुनते हैं, चिट्ठी आई थी, दस हज़ार फलानी जगह पहुँचा दो, वरना लड़के को ज़िंदा नहीं छोड़ेंगे। पुलिस को ख़बर की तो ख़ैर नहीं है....।'' आधी बांहों की कमीज़ और नेकर पहने साइकल लिए एक भारी-से सज्जन जिस अधिकार से बता रहे थे उसी से लगता था कि एक ही मुहल्ले के हैं, ''उनको ख़बर लग गई होगी कि पिछले साल ही गौना हुआ है, सो नक़दी सोना कुछ-न-कुछ तो होगा ही....''

''किसी ने ख़बर कर दी होगी,'' धूप से आँखों की आड़ करते हुए दूसरे ने राय दी।

''अरे साहब, उनके मुख़बिर सब जगह होते हैं, मिनट-मिनट का हाल उन तक पहुँच जाता है....।'' हम दोनों ने एक-दूसरे को इस तरह देखा कि हम में मुख़बिर कौन है ?

''हाँ साहब, फिर.... फिर क्या हुआ?'' इन बेकार की बातों के बीच में आ जाने से झल्लाकर किसी बेचैन श्रोता ने सवाल किया।

''फिर क्या ?'' वे सज्जन बताने लगे, ''दो-तीन दिन तो बेचारों ने इसी सोच-विचार में निकाल दिए कि रुपयों का इंतज़ाम करें तो करें कैसे ? पंद्रह-बीस साल की नौकरी हो गई तो क्या हुआ ? तुम तो जानते हो, आज के ज़माने में इतना रुपया है किसके पास ? फिर कोई सेठ-साहूकर हों तो बात दूसरी है। नौकरी-पेशा आदमी बेचारा महीने के खर्चे ही कैसे पूरा करता है, हम जानते हैं। जितना सोचा था, लड़के की शादी में उतना मिला नहीं। जो जोड़ा था, वह लड़कियों की शादी में लगा चुके थे— ऊपर से कर्जा और था... मगर साहब, लड़के की जान का मामला ठहरा.... हाथ-पांव जोड़कर, किसी तरह माँग-जांचकर रुपये जमा किए, फिर किसी हम-तुमवार ने ये समझा दिया होगा या पता नहीं क्या दिमाग में आई कि चुपके से पुलिस में जाकर ख़बर कर दी....''

''च्च् च्च्, हरे राम-राम!'' कई एक साथ बोले, ''बस, यही ग़लती कर दी... अरे भाई, पुलिस वाले साले तो ये सब कराते ही हैं। उनसे मिले रहते हैं। और इस तरह के, उठाकर ले जाने वाले डाकू तो समझो, बड़े चौकन्ने होते हैं। जहाँ उन्हें ऐसा कुछ शक हुआ कि फिर तो बोटी-बोटी काट देते हैं.... पिछली बार सुना नहीं था....''

काफ़ी भीड़ इधर ही मुड़ आई थी और सांस रोके यह किस्सा सुन रही थी। बात किसी और किस्से में बह जाएगी, इस अधीरता से झल्लाकर किसी ने नेकर वाले से पूछा, ''तो फिर.... फिर क्या हुआ ?''

''बस साहब, ये रुपये रख आए और पुलिस ने मोर्चा साध लिया.... घंटा, दो घंटा, तीन घंटा.... कोई रुपये लेने ही नहीं आया।''

''कोई नहीं आया ?'' भीड़ में सामने वाले ने पूछा।

''उन्हें तो पता लग गया न... वो क्यों आते ?'' नेकर वाला बोला, ''दूसरे दिन ही चिट्ठी आ गई कि आपने हमारे साथ धोखा करके पुलिस को ख़बर कर दी, अब हमारा कोई दोष नहीं है....'' यहाँ सुनाने वाले ने गहरी सांस ली, ''सो बेचारे को मार-मूरकर कल रात को नाले पर डाल गए.... यों देखो कि एक-एक इंच पर चोट के निशान हैं....।''

''और रही-सही कसर, पोस्टमार्टम के नाम पर डॉक्टरों ने पूरी कर दी।'' किसी ने जोड़ा। शायद सभी का यही ख़याल था कि पोस्टमार्टम या डॉक्टरी-रिपोर्ट का अर्थ एक-एक अंग चीर-फाड़कर देखना है।

सारी भीड़ पर नए सिरे से एक आतंक का आलम तारी हो गया.... और जैसे सब अपने-अपने बच्चों की बातें सोचने लगे। पहला ख़्याल मुझे भी यही आया, चलो अच्छा है, मेरे बच्चे यहाँ नहीं है; फिर सोचा, लेकिन ऐसे दल तो वहाँ भी होंगे। आज ही चिट्ठी लिखूंगा— बच्चों को एकदम बाहर मत निकलने देना....

''पहली चिट्ठी तो लड़के के हाथ की ही लिखी बताते हैं।'' किसी ने कुछ देर से छाई दमघोटों चुप्पी को तोड़ा।

''मार-मारकर लिखवाई होगी।'' समझदारी से, मुंडासा बांधे एक नंबरदार-जैसा आदमी बोला, ''इन लोगों को दया-माया थोड़े ही होती है....''

ऐसे समय क्या बोलना चाहिए, यह तय करना बड़ा ही मुश्किल है। मैंने समझदारी से कहा, ''वो तो कहो, लड़का था, सो मार दिया; लड़की होती तो पता नहीं बेचारी की क्या दुर्गत करते.... किसके हाथों कहाँ जा बेचते....'' लेकिन शायद यह मन-ही-मन कहा, क्योंकि किसी पर कोई असर नहीं हुआ। वही मुंडासे वाला समझा रहा था, ''ऐसा वक्त आ गया है कि आदमी चोर-डाकू न बने तो क्या करे ? गेहूँ साठ रुपये मन हो गया है, खाना-पीना मिलता नहीं। बरसों इस दफ़्तर से उस दफ़्तर में चक्कर

मारो, नौकरी को कोई पूछता नहीं। अभी तो और होगा, तुम देखते रहना।'' मैंने उसे ग़ौर से देखा— कहीं यह व्यक्ति भी तो डाकुओं में से नहीं है। वे इसी तरह आदमियों को भेज देते हैं और सारी जानकारी इकट्ठी करते रहते हैं..... उसकी बात पर जो आदमी सबसे अधिक मुग्ध-भाव से सिर हिला था वह बिना क्रीज़, गंदी पतलून, बनियानहीन कमीज़ में अधेड़-सा दिखाई देता था। या तो वह ख़ुद बेकार था, या उसका बेटा-भाई काफ़ी दिनों से बेकार बैठा था, मैंने अनुमान लगाया।

अब भीड़ डाकुओं के किस्सों और उसके कारणों में भटक गई थी। उस क्षण शायद सबका ध्यान पास पड़ी लाश और रोते हुए घर वालों की तरफ़ से हट गया था। लाल बिल्डिंग की आड़ में धूप से बचकर खड़े-खड़े मैं तय नहीं कर पाया था कि अब यहाँ खड़ा रहूँ या चल दूं। बड़ी देर कोशिश करने पर भी याद नहीं आया कि मुझे जाना किधर है। अब यहाँ तो होना-जाना कुछ नहीं है। हालत बहुत बुरी होती जा रही है, आदमी का सुरक्षित चलना-फिरना मुहाल हो गया है। चलते-चलते मैंने उससे कहा, ''लेकिन इस तरह आदमी को जान से मार डालने से उन्हें क्या मिला ? रुपया तो मिला नहीं, उलटे एक आदमी जान से हाथ धो बैठा।''

''अब आगे कोई पुलिस में ख़बर देने या माँगा हुआ रुपया न देने से पहले कई बार सोचेगा तो सही।'' उसने तड़ाक्-से जवाब दिया। हाँ, यह बात भी काफ़ी वज़नदार है, मैंने सोचा और जगह छोड़ने से पहले मन में प्रलोभन आया, एक बार उस लाश को भी देखता चलूं, हालांकि जानता था — वहाँ ऐसा नया कुछ भी नहीं है। दो आदमियों के बीच में से जगह बनाकर भीड़ में घुसा तो फिर वही घेरा था.... वही लाल-पत्थरों के फर्श पर पड़ी पतली-सी लाश थी और चार-पाँच रोने वाली औरतों की आवाज़ें थीं, आँखों पर कुहनियाँ रखे रोते पुरुष थे और राख की तरह बैठा 'बाप' था... सामने पड़े उस व्यक्ति को अपने से तोड़ लेने की कोशिश में ये लोग कैसी भीषण शारीरिक-मानसिक यातनाओं से गुज़र रहे थे... मैंने दार्शनिक ढंग से सोचा। मान लीजिए, किसी जादू से वह उठकर बैठ जाए तो शायद फिर से अपने-आपको इसके साथ जोड़ने में भी इन्हें इतनी ही तकलीफ़ होगी..... और मैं भीड़ से निकलकर लौटने को ही था कि एक और घटना हो गई और सारी भीड़ बड़े ही विचित्र भाव से आंदोलित हो उठी.... स्प्रिंगवाला स्विंग-दरवाज़ा खोलकर नीचा सफ़ेद कोट पहने पहले वाले डॉक्टरनुमा आदमी ने निकलकर बिना किसी को संबोधित किए पूछा, ''तुम्हारे बेटे का नाम हरिकिशन था न.... ?''

हरिकिशन हो या चरनराम, अब क्या फर्क पड़ता है ? मैंने सोचा ही था कि किसी ने करहाते-से ढंग से कहा, ''हाँ बाबू जी, हरिकिशन ही था....'' कहने वाला बाप नहीं था। शायद ये लोग अपनी कोई खानापूरी करने को पूछ रहे हैं।

''उसके ऊपर वाले होंठ पर चोट का निशान था ?'' डॉक्टर ने फिर निराकार सवाल किया।

''हाँ जी... हाँ जी,'' ज़रा देर को सहसा औरतों का रोना रुक गया, इस उम्मीद में कि शायद डॉक्टर कोई ऐसा समाचार देगा कि सारा दुख बदल जाएगा....''

''देखो, यह लाश ग़लती से आ गई है। नंबर गड़बड़ हो गया था। तुम्हारे बेटे की लाश दूसरी है। यह तो भट्टी में जलने का केस था...'' डॉक्टर ने निहायत ही मशीनी ढंग से कहा और दरवाज़ा छोड़कर भीतर हटा ही था कि नीले गंदे-से नेकर-कमीज पहने दो आदमी आगे-पीछे एक नई स्ट्रेचर उठा लाए...

जैसे किसी नाटक का दृश्य हो, सधे हाथों से उन्होंने स्ट्रेचर ज़मीन पर रखी, एक ने सिर और दूसरे ने पांव से उठाकर लाश को ज़मीन पर लिटाया तो दो-एक ने बड़ी तत्परता से बीच में हाथों का सहारा दिया... अब दो लाशें बराबर-बराबर लेटी थीं। फिर उन्होंने उसी रिहर्सल किए गए ढंग से पहली लाश को टांगों और सिर की तरफ़ से उठाकर स्ट्रेचर पर रखा, पीछे की ओर घूमकर स्ट्रेचर के हत्थे पकड़कर घूमे, उठे और झटके से मोड़ लेकर अंदर की ओर चल दिए... शायद लाश भारी थी।

किसी ने नई लाश की सफ़ेद चादर बहुत ही डरते-डरते ज़रा-सी उठाई.... और रोना-धोना एकदम नए सिरे से शुरू हो गया... बांहों में बंधी 'बहू' नए सिरे से छूटकर लाश पर जा गिरी और छाती पर सिर मार-मारकर रोने लगी। मां ज़मीन पर पहले की तरह सिर फोड़ रही थी, बाल नोंच रही थी; बाप ने नए सिरे से सिर पर हाथ मारा था और पहले से भी ज़्यादा ढेर होकर बैठ गया था.... पृष्ठभूमि का रुदन-संगीत उसी गति से चलने लगा था।

स्ट्रेचर ले जाते हुए दोनों जमादारों ने जाली खुले दरवाज़े में जाकर गुटके हटा दिए थे और दरवाज़े भट्-भट् करके बंद हो गए थे... निगाह फिर बीच की लाश पर लौट आई... औरतें बहू को हटा रही थीं और लोग चादर को पकड़े थे कि बहू को हटाने में खिंची न चली आए। टूटी चूड़ियों के ज़मीन पर बिखरे टुकड़ों को देखकर समझ पाना बड़ा मुश्किल था कि ये अभी-अभी टूटे हैं, क्या पहली लाश पर टूटे थे.... मेरी इच्छा हुई कि एक बार ज़रा-सी चादर हटे तो देखूं कि क्या इस चेहरे पर भी दांत उसी तरह लगते हैं ? किसी ने कहा था, ''हमें तो पहले ही लगा था....''

दूर सड़क पर एक चिचियाती आवाज़ देर तक पीछा करती रही— 'हाय मेरे बेटे...!' लेकिन उसमें अब पहले जैसी 'उठान' नहीं थी। ◆

राजेन्द्र राव

राजेन्द्र राव का जन्म 1944 में राजस्थान के कोटा शहर में हुआ। पेशे से इंजीनियर किन्तु अपनी लेखन सामर्थ्य से हिन्दी के शीर्षस्थ कहानीकारों में गिने जाने वाले इस प्रख्यात कहानीकार की कलम से सैकड़ों अविस्मरणीय कहानियों का जन्म हुआ है। चर्चित कृतियों में 'सूली ऊपर सेज पिया की', 'नौसिखिया', 'दूध के दांत', 'खाला का घर नांहि', 'ना घर तेरा ना घर मेरा'

आजकल सेवानिवृत्ति के बाद दैनिक जागरण के साहित्यिक पृष्ठ पुनर्नवा से संबंद्ध।

संपर्क –
245/6, जे.के. कॉलोनी,
कानपुर-208010

यशोधरा ही ठीक है!

बदरीविशाल जल्दबाजी के कायल नहीं; बल्कि उनका ख्याल तो यह है कि 'सहज पके सो मीठा होय'। यही कारण था कि नरेश की नौकरी लगने के दो वर्ष तक उन्होंने शादी-ब्याह के बारे में गंभीरता से काम नहीं लिया। उन्हें पक्की उम्मीद थी कि जैसे-जैसे लोगों को नरेश के बारे में पता लगता जाएगा, उनके दरवाजे पर लड़कीवालों की भीड़ लग जाएगी। तब उनमें से किसी अच्छे आदमी को पकड़ेंगे। लेकिन इक्का-दुक्का कमजोर-से लगने वाले रिश्तों को छोड़कर कोई उल्लेखनीय प्रस्ताव उन तक नहीं पहुँचा। नरेश परमानेंट हो गया, उसका फंड कटने लगा — यहाँ तक कि एक सालाना इंक्रीमेंट भी लग गया; मगर लक्ष्मीजी ने उनके घर दस्तक नहीं दी।

उन्हें लगा कि समय यों ही हाथ से निकला जा रहा है। कहीं ऐसा न हो कि ये एक-दो आदमी, जो शादी के बारे में खतोकिताबत किया करते हैं, ये भी हाथ से निकल जाएँ। क्या तब किसी के घर लड़की माँगने जाना पड़ेगा ? इस विचार से ही उनको फुरफुरी उठ आई। लगा कि तुरंत ही कुछ करना चाहिए।

उन्होंने सोचा — कमाल है! हमेशा से तो यही सुनते आए कि नौकरीशुदा लड़कों का अकाल है। चिराग लेकर ढूँढने पर नहीं मिलते और मिलते हैं तो उनके बाप सुरसा की तरह मुँह फाड़ देते हैं। हर तरफ दहेज को लेकर त्राहि-त्राहि मची हुई है। रोजाना अखबारों में बहू जलाए जाने के समाचार पढ़ने में आते हैं। सरकार को मजबूर होकर सख्त कानून लागू करना पड़ा है। फिर, नरेश के मामले में लड़कीवालों का रुख ठंडा क्यों है ? हममें कौन कमी है ? कुल-खानदान अच्छा है, लड़का सरकारी नौकरी में है। ठीक है, किसी बड़ी पोस्ट पर नहीं है; मगर आई.टी.आई. का मास्टर भी अपना अलग ही रुतबा रखता है। इम्तिहान के दिनों में जाने कितने लड़के भेंट-सौगात लेकर चक्कर लगाया करते हैं। फेल-पास करना तो इसके हाथ में है.... और तो और, अभी तो मैं खुद भी नौकरी में हूँ।

यह नहीं कि उनके रिश्तेदारों या परिचितों में नरेश के लिए उपयुक्त लड़कियाँ नहीं थीं। दूर क्यों जाना, उनके परम मित्र माताप्रसाद के यहाँ ही एक नहीं, तीन-तीन ब्याहने

बैठक में कुर्सी पर बैठकर वे एक बार फिर विचारों में डूब गए। उन्होंने तय कर लिया कि यहाँ रिश्ता नहीं करना है। घर में पहली बहू ही असुंदर आए, यह उन्हें गंवारा नहीं।

योग्य कन्याएँ तैयार बैठी थीं। देखने-सुनने में भी अच्छी, पढ़ी-लिखीं। माताप्रसाद उनके लिए अखबार में विज्ञापन देकर लंबी खतोकिताबत करते रहते थे। ताज्जुब की बात कि बगल में लड़का और जगत् ढिंढोरा। एक बार भी माताप्रसाद ने उनसे यह नहीं कहा कि शोभा, शारदा, सरस्वती में से किसी को नरेश के लिए चुन लो। बदरीविशाल समझे कि ये मित्रता के कारण संकोच में पड़े हैं, इसलिए एक रोज उन्होंने खुद ही बात चलाई। माताप्रसाद ने साफ कह दिया, 'देखो भई, बुरा मत मानना, मैं तो अपनी लड़कियों के लिए कम-से-कम जूनियर इंजीनियर या बैंक इंप्लाई चाहता हूँ।'

बदरीविशाल अपने मित्र की फिलॉसफी सुनकर आसमान से गिरे। घर में नहीं दाने, अम्मा चली भुनाने! ये मुँह और मसूर की दाल! जूनियर इंजीनियर और बैंक के क्लर्क का सपना देख रहे हो और घर में भूँजी भाँग भी नहीं। उन्हें मालूम था कि अपनी खुद की और परिवार की शौकीनी तथा फैशनपरस्ती की वजह से माताप्रसाद आकंठ कर्ज में डूबे हुए हैं। दफ्तर से जितनी तरह के कर्जे होते हैं, ले ही रखे हैं। बाजार में कोई दुकान नहीं, जिसके खाते में उनके नाम सैंकड़ों की बकाया न दर्ज हो। उनकी बीवी और लड़कियाँ शैंपू-तेल-फुलेल में उड़ाती हैं, तो माताप्रसाद शराब-कबाब में। ऐसी कौन जन्नत की हूर हैं, जो बगैर दहेज कोई ऊपर की इन्कम वाला इन्हें ले जाएगा। कुछ नहीं, सब लीपापोती का खेल है, बकवास!

बदरीविशाल शुरू से ही घरघुसरे थे। उन्हें परिवार के दायरे से बाहर झाँकने की फुरसत ही नहीं मिली। शायद उन्होंने चाहा भी नहीं। उनकी पत्नी घर-गृहस्थी के कामों में भले ही सुघड़ रही हो, मगर सुंदर तो बिल्कुल नहीं थी। फिर भी पति को अच्छी तरह से बाँधकर रखा उसने। भगवान् की ऐसी कृपा हुई कि उनके एक के बाद एक चार पुत्र जनमे। एक दफे तो मोहल्ले में धूम मच गई। लोग उन्हें मजाक में राजा दशरथ कहने लगे।

नरेश सबसे बड़ा था। पहले तो ठीक चला, लेकिन बाद की क्लासों में लुढ़कते हुए चलने लगा तो बदरीविशाल को कुछ निराशा हुई। उन्होंने उसे किसी तरह हाई स्कूल पास करवाया और आई.टी.आई. में भरती करवा दिया वेल्डर ट्रेड में। मजे की बात यह कि स्कूल की पढ़ाई में फिसड्डी रहने वाला नरेश वेल्डिंग के काम में सबसे अव्वल साबित हुआ। उसके प्रिंसिपल ने उसे आई.टी.आई. पास करने के बाद सी.टी.आई. में इंस्ट्रक्टर ट्रेनिंग के लिए भेज दिया। वहाँ से निकलते ही उसके लिए नौकरी तैयार थी। उसके हुनर की ऐसी कद्र हुई।

नरेश ठीक-ठिकाने लग गया तो माँ-बाप के मन में लड्डू फूटने लगे। बदरीविशाल रात का खाना खाकर बदस्तूर पत्नी से घंटे-भर गप्प-सड़ाका किया करते थे। उनकी इस अंतरंग महफिल में बच्चे दखल न देते थे। नरेश की नौकरी के तुरंत बाद ही वे दोनों उसकी शादी के प्रसंग पर तोता-मैना संवाद करने लगे थे। बदरीविशाल पत्नी को खिजाने के लिए कहते, 'भई, अभी कम-से-कम पाँच साल तक शादी-ब्याह का नाम मत लो। उसे चार पैसे कमाने दो, जमा करने दो, कुछ दिन आजाद रहने दो, फिर सोचेंगे।' पत्नी तुनककर कहती, 'तो क्या बूढ़ा हो जाएगा तब करोगे उसकी शादी ? अपनी दफे तो बहुत जल्दी मचाई थी।' फिर दोनों दिल खोल कर हँसते या फिर वे कहते कि 'देख लेना, नरेश के ब्याह में एक पैसा नहीं लूँगा लड़की वाले से। बस लड़की देखने में सुंदर हो, काम-कान में होशियार हो; भले ही गरीब घर की हो।' पत्नी भड़ककर कहती, 'वाह-वाह! सारी दुनिया तो अपना-अपना घर भर रही है। लूट मची है जमाने में, तो क्या हम ही बचे हैं गरीब आदमी की बेटी के लिए! नहीं जी, नहीं। मेरे लड़के में कौन कमी है ? ठीक है, किसी को सताना नहीं, मगर मोटर साइकिल लिए बिना तो मैं नहीं मानूँगी।'

जाहिर है कि उन्हें इस तरह की छेड़छाड़ में मजा मिलता था; लेकिन चतुराई से वे अपना निश्चित मत जाहिर नहीं होने देते थे कि दहेज लेंगे या सिर्फ लड़की के गुण-रूप-शिक्षा आदि को देखकर ही रिश्ता तय करेंगे। सोचते थे, जब मौका आएगा, तब देखा जाएगा। वैसे मोटे तौर पर बेटे के विवाह की एक पूर्व कल्पना-सी उनके मन में कहीं गहरे में थीं। उसे अगर ज्यों-का-त्यों उतारकर बाहर दिखाया जाता तो लोग उन्हें शेखचिल्ली का छोटा भाई समझते।

अब कुछ नरेश के बारे में बता दिया जाए। वह माँ-बाप के बीच अपनी शादी को लेकर चलने वाली बातचीत को चोरी-छुपे सुना करता था। वह समझ चुका था कि ये लोग बातें ही किया करेंगे, करेंगे-धरेंगे कुछ नहीं। इसलिए उसने इस विषय पर स्वतंत्र चिंतन करना शुरू कर दिया।

नरेश नए जमाने का लड़का था, कोई शेखचिल्ली नहीं जो ख्याली पुलाव पकाता रहे। उसने अपने सपनों की रानी यानी ख्वाबों की मल्लिका वगैरह को अच्छी तरह से सोच-विचारकर चुन लिया था। जाति-बिरादरी से बगावत करने का उसका कोई इरादा नहीं था। न ही उसने दूर किसी इलाके की हसीना की चाहत ही पाली थी। उसने तो पास-पड़ोस की सजातीय और बराबरी की लड़की शारदा को अपनी भावी पत्नी के रूप में देखा था, जो कि उसके पिता के परम मित्र माताप्रसाद की मझली लड़की थी।

पिता और पुत्र की सोच में फर्क सिर्फ यह था कि नरेश को बदरीविशाल की तरह कतई उम्मीद नहीं थी कि माताप्रसाद उसके साथ अपनी लड़की ब्याहने के लिए स्वयं बातचीत चलाएँगे। वह जानता था कि उनकी तीनों लड़कियों के प्रेम विवाह करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है; क्योंकि उनका बाप लड़कियों के ब्याह पर पैसा खर्च करने को तैयार नहीं था। इसकी वजह यह थी कि उसके पास पैसा था ही नहीं और होता तो भी उसे इस निमित्त बचाकर नहीं रखा जा सकता था।

नरेश जब आई.टी.आई. में पढ़ रहा था, तभी से उसने शारदा के चक्कर लगाने शुरू कर दिए थे। वह जिंदगी-भर चक्कर ही लगाता रहता, अगर उसकी नौकरी लग जाने के बाद शारदा हाथ बढ़ाकर उसे खींच न लेती। नरेश ने भी फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा। अपनी नकेल उसने शारदा के हाथ में थमा दी, जो कि बेहद चतुर और चाक-चौबंद थी। दोनों महीने में कम-से-कम दो बार सिनेमा देखने जाते थे; मगर मजाल है कि मोहल्ले-पड़ोस में किसी को भनक भी लगी हो कि उनके बीच कोई चक्कर चल रहा है।

रात को खाना खाने के बात पति-पत्नी बैठे तो बदरीविशाल ने दाँत कुरेदते हुए पूछा, ''तो तुमने आखिर क्या सोचा?''

''उसमें सोचने की क्या बात है ? मैं तो कहती हूँ कि कल करते हो तो आज कर लो। मुझसे क्यों पूछते हो ?''

''क्यों ऐसी उखड़ी-उखड़ी बातें कर रही हो ? मैं तो तुम्हारी राय पूछ रहा हूँ। मैंने कब कहा कि यही रिश्ता करना है। हाँ, इस समय जितने ऑफर हमारे पास हैं, मेरी समझ में यह उनमें सबसे बेहतर है।''

पत्नी ने मुँह बनाकर कहा, ''जैसे तुम नहीं जानते कि इनकी लड़की का रंग काला है। वही बची है क्या नरेश के लिए ?'' तो वे नरम होकर बोले, ''देखो, अब बहुत हो चुका। कब तक किसी धन्नासेठ की अप्सरा जैसी बिटिया की राह देखें! ऐसा न हो कि सब लोग यह समझ लें कि हमें तो शादी करनी ही नहीं है। बद अच्छा, बदनाम बुरा। सबने मुँह फेर लिया तो थूककर चाटना पड़ेगा। माँगकर लड़की लेंगे तो बहुत बेइज्जती होगी।''

''अजी, अच्छी लड़की हो तो माँगकर लाने में भी कोई हर्ज नहीं है। कम-से-कम देखने-सुनने में तो भली हो। ये गोपालपुरवाला कुछ देगा-लेगा भी या यों ही अपनी काली-कलूटी हमारे गले मढ़ देगा ?''

''यही तो तुम्हें सोचना था, मगर अब क्या कहूँ ? — कुछ कह दूँगा तो मुँह फुलाकर बैठ जाओगी। भली मानस, वह उसकी इकलौती लड़की है। उसे जो कुछ देना होगा, इसी को देगा। उसका दहेज बाँटनेवाली और कोई नहीं है उसके घर में। मैं तो कहता हूँ, बिना माँगे सबकुछ देगा। हो सकता है, मोटर साइकिल की ही तुम्हारी तमन्ना पूरी हो जाए।''

''इस भरोसे न रहना। उसके तीन लड़के जो हैं बाँटने वाले। हाँ, यही इकलौती औलाद होती तो कुछ उम्मीद रखते। खैर, तुम जरूर देख-सुन आओ। रंग तो जैसा है सो है, कुछ रूप भी है कि नहीं। नैन-नक्श तो सुंदर होने ही चाहिए।''

''क्यों, तुम नहीं चलोगी ? मेरा विचार तो यह था कि कल शनिवार की छुट्टी है। दोनों आदमी निकल चलते। तुम्हें समझ आ जाती तो वहीं बात पक्की करके इतवार को लौट आते। न हो तो नरेश को भी लेती चलो; पर जाने संगमलाल इसमें बुरा मानें। अभी गाँव-कस्बों में बेपरदगी नहीं हुई है। शायद ही वहाँ कोई लड़का लड़की देखने जाता हो। खैर, इस बारे में जैसा तुम तय करो।''

''मैं तो कहीं जाऊँगी नहीं। आज तक किसी के घर मुँह उघाड़कर नहीं गई तो अब बुढ़ापे में क्या जाऊँगी! फिर तुम तो खुद ही मुझे काली निखट्टू समझते हो तो दुनिया को अपना अच्छा-बुरा क्यों दिखाने जाऊँ ? हाँ, नरेश जाने को राजी हो तो लेते जाओ; लेकिन जब तुम्हें जँच गई है कि वहीं उसे ब्याहना है तो फिर झूठमूठ नाटक करने से क्या फायदा ? करोगे तो अपने मन की ही।''

रास्ते में बस खराब हुई तो ठीक होते-होते शाम के पाँच बजे गोपालपुर पहुँची। बदरीविशाल रास्ते की धूल झाड़ते हुए उतरे तो बस-अड्डे पर यूरीनल की गंध के जोरदार भभके ने उनका स्वागत किया।

उन्हें आसपास भिनकती मक्खियाँ देखकर बेहद कोफ्त हुई। बाजार में एक भी ढंग की दुकान नजर नहीं आई कि कुछ फल-मिठाई खरीद सकें। एक फलवाले ठेले से दागी संतरे और अधपके केले खरीदकर झोले में रखे। एक दुकानदार से संगमलाल कंपाउंडर का घर पूछा तो उसने एक लंबा पेचदार रास्ता बताया। वे रिक्शा तलाश करने लगे, मगर वहाँ रिक्शे कहाँ! घुटने के जोड़ के दर्द की वजह से उनको ज्यादा दूर तक पैदल चलने की आदत नहीं थी। उधर शाम झुकी जा रही थी। किसी भले आदमी के घर पहुँचने के लिए न तो वक्त सही था, न उनका हुलिया। अब तो रात-भर यहीं रुकना पड़ेगा, उन्होंने झल्लाते हुए सोचा। घर से यह सोचकर सुबह-सुबह चले थे कि लड़की या घर पसंद नहीं होंगे तो शाम तक वापस लौट आएँगे।

यह कस्बे का पुराना हिस्सा था। जन संकुल। गली इतनी तंग कि सीवर वहाँ ला सकना संभव ही न हो पाया होगा। हर मकान में पुराने ढंग के पाखाने थे, जिनकी संक्षिप्त मगर प्रभावी झलक लंबे सड़क उन्हें मिलती जाती थी। उनका जी मिचलाने लगा। घुटने में टीस उठ रही थी, जो लहर की तरह उठकर नीचे से आती और उनके कलेजे से टकराकर टूट जाती थी। उस बुरी साइत को कोसने लगे जिसमें घर से चले थे। सोचने के अलावा वे कर ही क्या सकते थे! दहेज का इतना शोर मचा हुआ है। समाज में अलग-अलग लड़कों के अलग-अलग रेट फिक्स हो गए हैं। डॉक्टर की, इंजीनियर की, क्लास वन अफसर की, बैंक के क्लर्क की— हर एक की एक कीमत है, जो लड़कीवाले को चुकानी पड़ती है। यह नरेश का बच्चा किसी लायक नहीं हुआ, नहीं तो आज इस मामूली कस्बे की शैतान की आँत जैसी लंबी और गंदी गली में पैर घसीटने नहीं पड़ते। मैं भी कैसा बौड़म हूँ कि आई.टी.आई. की मास्टरी को बहुत बड़ी तोप समझे हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहा। कुछ भाग-दौड़ की होती तो कोई-न-कोई अच्छी पार्टी फँस ही जाती। मगर ऐसा भी क्या, कोई बड़ी नौकरी नहीं है तो छोटी भी नहीं

है। सरकारी मुलाजिम है। चार आदमी इज्जत करते हैं। हर साल बीसियों लड़के उसके हाथ से फेल-पास होकर रोजी-रोटी कमाने लायक बनते हैं। कद्र करनेवाला हो तो मेरा लड़का हीरा है। कैसा नेक और सुशील बालक है! आज तलक कभी भी मेरे सामने उसने जुबान नहीं खोली। हर महीने पूरी तनख्वाह लाकर अपनी माँ के हाथ पर धर देता है और क्या, सुर्खाब के पर लगे होते हैं अच्छे लड़कों में ?

उधेड़बुन में कब वे संगमलाल के यहाँ जा पहुँचे, उन्हें पता ही नहीं चला। दरवाजे पर सन्नाटा था। उन्होंने साँकल पकड़कर बजाई।

कुछ देर बाद एक लड़की ने दरवाजा खोला। उन्हें देखकर पहले तो सकुचाई, फिर श्रद्धा सहित प्रणाम किया। उन्हें लगा कि वह उन्हें पहचान गई है, फिर भी उन्होंने पूछ लिया, ''संगमलालजी घर में है ?''

''जी, वे बाहर गए हैं, अभी आते ही होंगे। आप कानपुर से आए हैं ?''

उन्होंने ध्यान से लड़की को देखा। झुटपुटे और कम रोशनी के बावजूद उन्होंने देख लिया कि वह कुछ नाटे कद की साँवली-सी लड़की है। उसका शरीर भरा हुआ था और चेहरा गोल था। निहायत ही साधारण किस्म की उस लड़की को पहली नजर में देखकर उन्हें निराशा-सी हुई। वह धीमे स्वर में फिर बोली, ''पिताजी सवेरे से आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बाद में यह सोचकर कि शायद आप कल आएँ, अभी-अभी बाहर गए हैं। आप अंदर आइए।''

बदरीविशाल को घुटने का दर्द और प्यास का जो अहसास था, वह सहसा कहीं खो गया। एक कचोट-सी मन में उठी। पत्नी का ध्यान हो आया। वह ठीक ही कहती थी, यह लड़की किसी दृष्टि से भी सुंदर नहीं कही जा सकती। अब, उलटे लौटकर जाया भी तो नहीं जा सकता। कहाँ आ फँसे! वही मसल हुई कि सिर मुँड़ाते ही ओले पड़े।

गलियारे में होकर भारी कदमों से वे बैठक में पहुँचे। लड़की एक ट्रे में पानी का जग और एक शीशे का गिलास ले आई। उन्होंने दो गिलास पानी पिया और कुर्सी पर आराम से टिककर बैठ गए। लड़की फिर आई और ट्रे वापस ले गई।

बैठक में कुर्सी पर बैठकर वे एक बार फिर विचारों में डूब गए। उन्होंने तय कर लिया कि यहाँ रिश्ता नहीं करना है। घर में पहली बहू ही असुंदर आए, यह उन्हें गंवारा नहीं। रंग ही सब कुछ नहीं है, मगर इसका तो कद भी छोटा है। नाक-नक्शा भी बिल्कुल मामूली है। यह नहीं चल पाएगा। वे अपने आपसे संवाद करने में जुटे थे कि वह लड़की चाय लेकर उपस्थित हुई।

उनके विचारों का सिलसिला टूट गया। एक तमाशाई की नजर से लड़की के क्रियाकलापों को देखने लगे। ट्रे में साफ-सुथरे प्याले थे। एक टीकोजी से ढकी हुई केतली थी और एक तश्तरी में बर्फी के टुकड़े रखे थे। लड़की ने बड़ी सुघड़ता से चाय का सामान लगाया।

लड़की ने करीने से चाय प्याले में डालकर उन्हें पेश की। दूसरा प्याला खाली पड़ा रहा। उन्हें आशा थी कि वह दूसरा प्याला भी भरेगी। चाय हाथ में पकड़कर टोह लेने के लिए पूछा, ''लो बिटिया, तुम भी पियो।''

''जी, मैं चाय नहीं पीती। अभी पिताजी आते ही होंगे, वे आपका साथ देंगे।''

वे चाय पीने लगे। लड़की सामने खड़ी रही। वह सिर झुकाए जैसे किसी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ी थी।

उन्हें अपने गलत अनुमान पर और थोड़ी देर पहले लिए गए कठोर निर्णय पर थोड़ी-सी ग्लानि महसूस हुई। व्यावहारिकता जागी। सोचा, एक कुशल अभिनेता की भाँति मुझे इस मंच पर अपनी भूमिका निभानी चाहिए। अपने मनोभाव जल्दी जाहिर कर देने से मैं इन लोगों के मन में बेवजह एक कटुता छोड़ जाऊँगा।

इसी नीति के तहत उन्होंने बड़ी मुलायमियत से काम लेते हुए पूछा, ''तुम संगमलाल जी की बिटिया हो ?''

''जी।''

''तुम्हारा नाम क्या है, बेटी ?''

''जी, यशोधरा।''

''पढ़ती हो ?''

''जी हाँ, मैं बी.ए. फाइनल में हूँ।''

''कौन से विषय लिये हैं ?''

''जी, जनरल इंग्लिश, इंग्लिश लिटरेचर, सोशियोलॉजी और इकोनॉमिक्स।''

''वाह, इंग्लिश लिटरेचर लिया है तुमने! तब तो तुम्हारी अंग्रेज़ी बहुत अच्छी होगी। इंटरमीडिएट में कितने परसेंट मार्क्स पाए थे अंग्रेज़ी में ?''

''जी, सिक्सटी सिक्स परसेंट।''

''वेरी गुड, वेरी गुड! तुम तो बहुत होशियार मालूम पड़ती हो। और क्या-क्या सीखा है तुमने ? खाना बनाना जानती हो ?''

''जी, खाना तो मैं ही बनाती हूँ। सिलाई-कढ़ाई का कोर्स भी किया है। डॉल मेकिंग का भी कोर्स किया है।''

''अरे, ये सब कोर्सेज भी होते हैं यहाँ ? मैं तो इसे मामूली कस्बा समझ रहा था।''

''जी, हमारे कॉलेज की प्रिंसिपल बहुत अच्छी हैं। उन्होंने कई तरह के कोर्सेज यहाँ लड़कियों के लिए करवाए हैं।''

''अच्छा यशोधरा, बी.ए. पास करने के बाद क्या करोगी ? एम. ए. या बी. एड. ?''

''जी, यह तो आगामी परिस्थितियों पर निर्भर करता है। मैं तो इंग्लिश लिटरेचर लेकर एम.ए. करना चाहती हूँ, मगर .... शायद पिताजी आ गए।''

वह दरवाजा खोलने चली गई। संगमलाल अंदर आए और बदरीविशाल के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गए, ''हजूर, हजूर, आज तो कृपा कर ही दी आपने। हम लोग तो सवेरे से रास्ता ताक

रहे थे। फिर निराश होकर बैठ गए। बड़ा ही अच्छा हुआ कि आप आ गए। आपकी चरण-रज से मेरा घर पवित्र हो गया। मुझ बेसहारा पर आपकी कृपा हो गई, अब और क्या चाहिए!''

बदरीविशाल ने मन-ही-मन सोचा, यह आदमी जरूर किसी रामलीला पार्टी या नौटंकी में काम करता रहा है। तभी ऐसे नाटकीय ढंग से बोलता है। उन्होंने उठकर संगमलाल को बिठाना चाहा, मगर वह शख्स बैठने को तैयार नहीं, ''हजूर, यह कैसे हो सकता है, हजूर! मैं भला आपके सामने कैसे बैठ सकता हूँ! मैं तो आपका दासानुदास हूँ। सेवक हूँ। कहिए, रास्ते में आपको कुछ कष्ट तो नहीं हुआ ?''

उन्हें खींचकर बिठाते हुए बदरीविशाल बोले, ''नहीं, वैसे तो कोई खास कष्ट नहीं हुआ, मगर रास्ते में बस बिगड़ गई और दो-तीन घंटे रुके रहना पड़ा। इसीलिए यहाँ पहुँचने में देर हो गई।''

''हें! रास्ते में दो-तीन घंटे रुके रहना पड़ा और आप कहते हैं कि कोई कष्ट नहीं हुआ! कृपानिधान, आप बहुत ही दयालु हैं। मेरी कुटिया धन्य हो गई। जो कुछ रूखा-सूखा मेरे पास है, वह हाजिर है; मगर आपके लिए तो वह सुदामा के तंडुल की तरह होगा। भला मैं किस योग्य हूँ!''

संगमलाल के लंबे पत्र आते रहे थे, मगर उनसे मिलने का यह पहला मौका था। बदरीविशाल उनकी बातचीत के ढंग से कुछ ज्यादा ही सतर्क हो गए। उन्हें लगा कि यह लच्छेदार बातें करके उन्हें फँसाना चाहता है और सुदामा बनकर बिना किसी खास दान-दहेज के अपनी काली लड़की मेरे मत्थे मढ़ना चाहता है। जिस हिसाब से यह आते ही चिपक गया है, उससे लगता है कि इससे पीछा छुड़ाना बहुत मुश्किल होगा।

उधर संगमलाल कह रहे थे, ''प्रभु! स्नान-ध्यान करना चाहें तो गरम पानी हाजिर है। आप लंबी यात्रा करके आए हैं, संध्या-पूजन से निबट लीजिए तो आपकी सेवा करने का कुछ अवसर मुझे और मेरे परिवार को प्राप्त हो।''

बदरीविशाल ने सोचा, इसकी बक-बक सुनने से तो संध्या-पूजनवाला ढोंग ठीक रहेगा। कम-से-कम दो घंटे का एकांत तो मिल जाएगा। फिर बाकी समय किसी तरह खाकर, सोकर गुजार लेंगे और सुबह होते ही यहाँ से रवाना। इस बीच किसी तरह भी इस धूर्त को यह आभास नहीं होने देना है कि इस रिश्ते में मेरी जरा भी रुचि है।

उनके साफ-सुथरे गुसलघर में वे आराम से पटरे पर बैठकर गरम पानी से नहाए। तबीयत ताजा हुई। फिर उनकी दी हुई शाल ओढ़कर पूजा करने बैठ गए। उनका पूजा करने का कोई नित्य नियम नहीं था। हाँ, हर मंगल को हनुमान चालीसा का पाठ कर लेते थे। यहाँ संगमलाल से जान छुड़ाने की गरज से बहुत देर तक आँखें मूँदे ठाकुरजी के सामने बैठे रहे।

उन्होंने पूजा का नाटक करते समय देखा कि पूजन-सामग्री, फूल, अर्घ्यजल आदि लाने और रखने का काम यशोधरा ने ही किया। उन्हें कुछ ऐसा लगा कि भले ही उसका चेहरा-मोहरा साधारण हो, मगर उसमें कुछ आकर्षण जरूर था। उसके चेहरे पर जो चमक थी, वह साधारण लड़कियों में नहीं होती।

बदरीविशाल नरेश के लिए लड़की देखने गए हैं, यह बात पूरे मोहल्ले को मालूम हो गई। माताप्रसाद की लड़कियों को मालूम हुआ तो शारदा मुँह लटकाकर बैठ गई। उसकी बहनें उसे समझाने-बुझाने लगीं। तीनों बहनों में बहुत एका था। शारदा की स्थिति पर विचार करने के लिए उनकी गुप्त बैठक हुई।

उधर माताप्रसाद ने 'जय भवानी' कहकर जामे सेहत का पहला ही घूँट पिया था कि उनकी पत्नी आकर सिर पर सवार हो गई। वह इस बात को कतई पसंद नहीं करते थे कि उनके बैठने (बैठकर पीने) के समय कोई आकर अप्रिय प्रसंग छेड़े। कुछ देर तक पत्नी की बक-झक सुनते रहे। मगर फिर उन्हें लगा कि इस तरह तो मजा किरकिरा होकर रहेगा, इसलिए पीछा छुड़ाने की गरज से बोले, ''देखो, मुझे बदरीविशाल और उसके लड़के की रत्ती-भर परवाह नहीं है। जरा सोचो कि कहाँ अपनी शारदा और कहाँ वो कलुआ! नौकरी पा गया, इसका मतलब यह तो नहीं कि बंदर के गले हूर बाँध दी जाए। बदरीविशाल ने बात चलाई थी तो मैंने पल्ला झटक दिया। अपना मुँह लेकर रह गया बेचारा। तुम जाकर आराम से बैठो। उनकी गरज होगी तो सौ दफे माँगने आएँगे शारदा को, नहीं तो हमें क्या! हमारी लड़कियाँ स्मार्ट हैं, सुंदर हैं, पढ़ी-लिखी हैं; हमें लड़कों की कमी न होगी।''

उनकी पत्नी ने बड़ी नफरत का भाव चेहरे पर लाकर विष-बुझे स्वर में कहा, ''इस बोतल ने तुम्हें कहीं का नहीं छोड़ा।'' छाती पर तीन-तीन जवान लड़कियाँ बैठकर मूँग दल रही हैं, मगर तुम्हें कोई परवाह नहीं। बस शाम हुई और लेकर गिलास बैठ गए। सारी कमाई तुमने शराब-कबाब में उड़ा डाली। लड़कियों को देखो तो मारे फैशन के मरी जाती हैं, पर किसी के पास पहनने के लिए कान की बाली भी नहीं है। गरीब-से-गरीब आदमी भी अपनी लड़की के लिए दो-चार जेवर बनाकर रखता है। तुमने लड़कियों के लिए बनाना तो दूर रहा, मेरे पास जो दो-चार चीजें थीं, वे भी बेच खाईं; क्या सारे दुःख मेरी ही किस्मत में हैं ?''

''मैंने तो हमेशा तुम्हें सुखी रखने की कोशिश की है, सुधा। क्या जेवर हमारी-तुम्हारी खुशी से भी ज्यादा कीमती हैं ?''

''खुशी, कैसी खुशी! मेरी लड़की दुःखी है तो मैं कैसे खुश हो सकती हूँ!'' तुम्हें अच्छी तरह पता है कि नरेश शारदा को चाहता है, फिर भी तुमने बदरीविशालजी की बात मानने के बजाय उनसे रूखा व्यवहार किया। सच बताना,

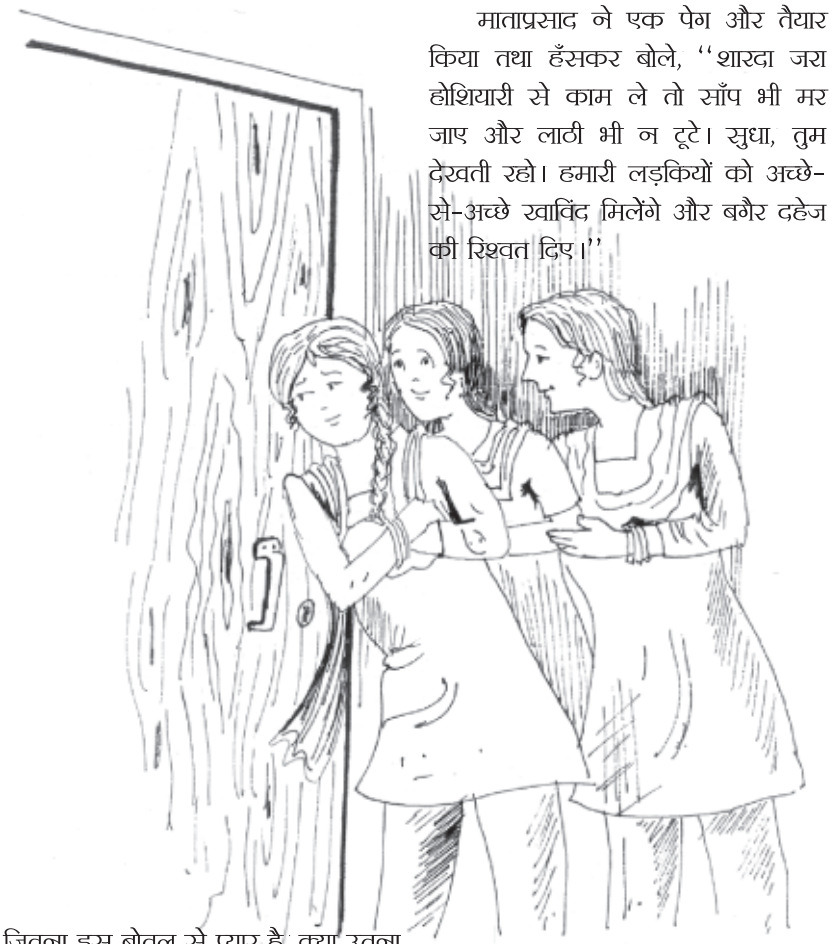

जितना इस बोतल से प्यार है, क्या उतना मुझसे या अपनी लड़कियों से भी है ?''

''सुधा, तुम्हें क्या हो गया है? तुम अच्छी तरह जानती हो कि बदरीविशाल लालची आदमी है। उसको उँगली पकड़ाओ तो पहुँचा पकड़ लेगा। हमने लड़कियों को पढ़ाने-लिखाने में क्या कम खर्च किया है, जो अब अपने आपको बेचकर इन लालचियों का घर भरें ? तुम शारदा को ठीक से समझाओ। नरेश उससे सच्चा प्यार करता है तो बदरीविशाल एक नहीं, बीस लड़कियाँ देख आए, क्या फर्क पड़ता है!''

''हाय राम, तो क्या तुम समझते हो कि नरेश बदरीविशाल की इच्छा के विरुद्ध शारदा से शादी कर सकता है ? यह नहीं हो पाएगा और लड़का हाथ से निकल जाएगा। पर तुम्हें क्या, तुम तो जाम-पर-जाम पिए जाते हो। घर-परिवार चाहे चूल्हे में जाए, चाहे भाड़ में, तुम्हारी बला से!''

माताप्रसाद ने एक पेग और तैयार किया तथा हँसकर बोले, ''शारदा जरा होशियारी से काम ले तो साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। सुधा, तुम देखती रहो। हमारी लड़कियों को अच्छे-से-अच्छे खाविंद मिलेंगे और बगैर दहेज की रिश्वत दिए।''

तीनों बहनें बाहर दरवाजे से कान लगाए यह संवाद सुन रही थीं।

तीनों बहनें बाहर दरवाजे से कान लगाए यह संवाद सुन रही थीं।

उनके चौके में कंबल पर बैठकर बदरीविशाल ने खाना खाया। संगमलाल बहुत कहने-सुनने पर साथ बैठे। सामने रसोई में यशोधरा चूल्हे पर फुलके सेंक रही थी। उसकी माँ लड़कों से सब्जी, रोटी, पानी वगैरह भिजवा रही थी।

खाने में कोई विशिष्ट व्यंजन नहीं थे, मगर स्वाद था। बदरीविशाल ने अपनी विरक्ति के बावजूद भरपेट खाया। संगमलाल के अतिशय विनम्रतापूर्ण संलाप पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया; मगर चूल्हे के सामने बैठकर फुलके सेंकती यशोधरा पर बार-बार उनकी दृष्टि टिक जाती थी। रह-रहकर वह उनकी ओर देखती कि सबकुछ ठीक-ठाक चल रहा है या नहीं। चूल्हे की आँच में उसका चेहरा देखकर उन्हें उस अज्ञात आकर्षण का भेद मालूम पड़ा। यह आकर्षण यशोधरा की पनियारी आँखों में था। उसके निहायत मामूली से चेहरे में दो बड़ी-बड़ी आँखें थीं, जो देखनेवाले को प्रभावित करती थीं। उनसे उसका जहीन होना जाहिर था, और भी बहुत कुछ अनकहा सुनाई पड़ता था।

उनका बिस्तर बैठक में लगाया गया था। संगमलाल ने पान पेश किया। पान खाकर बदरीविशाल सोचने लगे, अब यह शादी-ब्याह के बारे में बात करेगा। उन्होंने सिर्फ 'हूँ-हाँ' करके बात को टालने का फैसला किया।

उधर संगमलाल थे कि अपने नाटकीय संवादों का सिलसिला बराबर जारी रखे हुए थे। उन्होंने शाम से अब तक एक दफे भी रिश्ते या शादी का जिक्र नहीं छेड़ा था। इस बेतुकेपन पर बदरीविशाल को कुछ ताज्जुब हुआ। लगता है, यह आदमी उतना चालाक नहीं है, जितना मैं समझ रहा हूँ; बल्कि कुछ बेवकूफ ही लगता है। जाने कब से हजूर और कृपानिधान की रट लगाए है, मगर एक बार भी मतलब की बात पर नहीं आया। इसका मन टटोलना चाहिए।

''संगमलाल जी, आपने यशोधरा के विवाह के लिए क्या सोचा है ? कितना बजट है आपका ?''

''कृपानिधान, मुझ निर्धन-कंगाल का कैसा बजट! मैं हूँ ही किस योग्य, जो आप जैसे सज्जनों की सेवा में पत्र-पुष्प के अलावा कुछ और पेश करने की बात भी सोच सकूं। मुझे तो आपकी हर आज्ञा शिरोधार्य होगी।''

संगमलाल द्वारा भोलेपन से कही गई इस गोल-मोल-सी बात पर बदरीविशाल झुँझलाए बिना न रह सके। उनका धैर्य जवाब दे गया। इस आदमी को रास्ते पर लाना बहुत मुश्किल है। उन्होंने सोचा, इसे मजा चखाना चाहिए।

''देखिए संगमलालजी, शादी-ब्याह पत्र-पुष्प से नहीं होता, आप यदि स्पष्ट

रूप से अपनी तैयारी के बारे में बता दें तो मुझे निर्णय लेने में आसानी होगी।''

''हजूर की बातें! हजूर की आज्ञा हो और मैं न बजा जाऊँ, यह कैसे हो सकता है! मैंने तो कोई तैयारी की नहीं है। आप जैसा कहेंगे, कर दिया जाएगा।''

बदरीविशाल चिढ़ गए। बोले, ''अगर मैं कहूँ कि नरेश को नई मोटर साइकिल चाहिए तो आप दे पाएँगे ?''

''कृपानिधान, आपका आदेश होगा तो नरेशजी के लिए नई मोटर साइकिल जरूर आ जाएगी। यह तो मैंने खुद ही सोचा था। आपने कैसे जान लिया ? जरूर आप अंतर्यामी हैं। सब जानते हैं, फिर भी मेरी परीक्षा ले रहे हैं। परीक्षा लेते हैं भगवान् भक्तों की।''

बदरीविशाल यह सुनकर जैसे आसमान से गिरे। क्या संगमलाल मुझे बेवकूफ बना रहा है। नहीं, यह बड़ा नाटककार है। जरूर किसी रामलीला में काम करता रहा होगा। इसे समझना और आँकना इतना आसान नहीं है। इसे टटोलना ज़रूरी है। हद हो गई, मोटर साइकिल के लिए तो यह अपने आप ही तैयार हुआ बैठा था। खैर, कुछ और थाह लें इसकी।

''संगमलालजी, माफ कीजिए, यों तो अब सोने का भाव आसमान पर जा पहुँचा है, मगर जेवर आदि के बारे में आपने कुछ सोचा होगा। आप तो जानते ही हैं कि भले ही आप हाथी-घोड़े दे दें, बिना जेवर लड़की की शोभा नहीं होती।''

''अहा-हा हजूर की बातें! मुझ अनाथ को आप जमीन से उठाकर आसमान की बुलंदियों में ले जाना चाहते हैं। यही है न आपके मन में ? भला मैं किस योग्य हूँ। हाँ, इसकी माँ ने आज से दस-बारह साल पहले ही बारह-तेरह तोले के जेवर इसके लिए बनवाकर रख लिए थे, अब तो उन्हीं से काम चलाना पड़ेगा, प्रभु!''

बदरीविशालजी एकदम धराशायी हो गए। रात का तीसरा पहर। उनकी आँखों में नींद का नामोनिशान नहीं था। यशोधरा का चेहरा बार-बार उनके सामने आ जाता था। देर रात गए तक वे संगमलाल से बातें करते रहे और वह बाहर बरतन माँजती रही। सारे बरतन रात में ही माँजकर रख लिए गए। ऐसी होनहार, प्रतिभाशाली और कमेरी लड़की तो किसी भाग्यवान् को ही मिलती है। ऊपर से नई मोटर साइकिल और बारह तोले सोने के जेवर।

रूप-रंग ही सबकुछ नहीं। उन्हें अपनी पत्नी का ध्यान हो आया। वह तो देखने में यशोधरा से भी साधारण थी, मगर उसके साथ एक सुखी, संतुष्ट जीवन जिया उन्होंने। साहचर्य, संतान और गृहस्थी - किसी भी मोरचे पर कोई लड़ाई हारे नहीं थे वे दोनों। राजा दशरथ की तरह चार पुत्र हुए और आँगन में खेले। फिर! अब ज्यादा सोचना-समझना क्या! अपने लिए तो यशोधरा ही ठीक है। ◆

संजीव

चर्चित कथाकार संजीव का जन्म 1947 में बागरकलां (जि. सुलतानपुर) में हुआ।
शिक्षा, बी.एस-सी, ए.आई.सी. (भारत)।
'तीस साल का सफरनामा', 'आप यहां हैं', 'भूमिका और अन्य कहानियां', 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' और 'प्रेत मुक्ति' (सभी कहानी संग्रह) 'किशनगढ़ की अहेरी', 'सर्कस', 'सावधान! नीचे आग है', 'धार', 'जंगल शुरू होता है' (सभी उपन्यास) 'रानी की सराय' (किशोर उपन्यास)।
संप्रति, भारतीय इस्पात प्राधिकरण में केमिस्ट इंचार्ज।

डेढ़ सौ सालों की तनहाई

वे मुझसे डेढ़ दिन बाद मिल रहे थे, कायदे से देखा जाए तो डेढ़ सौ साल बाद, बायरन पार्क, जहां वे बैठे हुए थे, के बगल एक कब्रिस्तान था, किनारे-किनारे मेपल, एल्म के दरख्त और घानी घास और गुलाब की बेशुमार झाड़ों से महमहाता पार्क और उसकी तुलना में प्रायः उजाड़-सी ग्रेवयार्ड। 'मैं घास हूँ, मैं सबको ढक लूंगी', के दावे को गलत करते कब्रों के उभार दूर तक चले गए थे। पता नहीं, किस-किस की कब्रें रही होंगी — बूढ़े, बच्चे, स्त्री, पुरुष, योद्धा, वैज्ञानिक, लेखक, उद्योगपति, किसान या मजदूर....। जब तक ज़िंदगी गुलाब है, झूमो, इठलाओ, महक बनकर पृथ्वी के ओर-छोर तक फैल जाओ; थक जाओ तो कब्रों में सो जाओ, तो क्या वे थक कर बैठे थे पार्क और ग्रेवयार्ड की संधि पर ? अगर अपने भारत की तरह ही लंदन में भी गर्मियों के चार बजे सुबह का नीम अंधेरा छाया होता तो उनका इस तरह वहां बैठना एक वहम पैदा कर देता कि वे इन्हीं फैली हुई कब्रों में से किसी से निकलकर आ रहे थे या कब्र में जाने की तैयारी कर रहे थे।

कद मध्यम, चेहरा गोरा मगर अंग्रेज़ों जैसा गोरा नहीं, पीला मगर मंगोलों जैसा नहीं, बाल घुंघराले, मगर नीग्रो जैसे नहीं, उम्र साठ के आसपास, आँखें अंग्रेज़ी, ठुड्डी चंगेजी, नाक काकेशियन....। कब कौन-सी धारा किस धारा से मिली, कहां बिछड़ गई, जाते-जाते भी अपनी परछाइयां छोड़ गई, काई की तरह उन परछाइयों को हटा-हटाकर मैं झांक रहा हूँ — खुद से मिलते-जुलते किसी चेहरे को।

जब तक ज़िंदगी गुलाब है, झूमो, इठलाओ, महक बनकर पृथ्वी के ओर-छोर तक फैल जाओ; थक जाओ तो कब्रों में सो जाओ, तो क्या वे थक कर बैठे थे पार्क और ग्रेवयार्ड की संधि पर ?

शर्मा मुझे सिर्फ दूर से दिखाकर चले गए थे, विधिवत परिचय बाद में कराया उस पार्टी में, 'आपसे मिलिए, आप हैं मिस्टर रामजे!' उनके बारे में जो भी जानकारियां मिलीं, टुकड़े-टुकड़े जोड़कर देखा तो एक अस्पष्ट-सी आकृति जेहन के कम्प्यूटर पर उभरती चली गई और 'रामजे' झर कर 'रामजी' बनकर रह गया।

बाबूजी बताते थे कि डेढ़ सौ साल पहले घर से भागे थे हमारे वंश के उनके

पूर्वज। फिर बाद में भारत से गिरमिटिया मज़दूर बनकर उनके पूर्वजों में से एक रामचरन जी मारीशस गए थे। वहां गन्ने की खेती की, किसी क्रियोल लड़की से शादी की। उनके लड़के मोहन किसी बर्नेल साहब को इस कदर भा गए कि दक्षिण अफ्रीका गए तो साथ लेते गए। तीसरी पीढ़ी वहीं जन्मीं जो बाद में यूगांडा आ गई। यूगांडा में उनकी जीवन संगिनी बनी हेलेन। हेलेन के पिता नीग्रो थे, मां स्पेन की। चौथी या पांचवीं पीढ़ी इतनी छाप-छूप लिए इंग्लैंड आई, फिर एक और यायावरी टोबैगो की, फिर वापस इंग्लैंड। रामजे साहब के पिता रोहन जी को इंग्लैंड में फिर मिली भारतीय मूल की औरत गौरी। इस तरह रामजे छठी या सातवीं पीढ़ी के हुए। इतनी परतों के बाद भी भारत या सुल्तानपुर कहीं न कहीं कलेजे में चस्पां अवश्य ही रह गया होगा, जभी तो मुझे खींच रहा था।

'मैं हिंदी का लेखक यहां लंदन में आपके मित्र शर्मा के यहां ठहरा हुआ हूं और मूलतः सुल्तान का हूँ'। अभिवादन के साथ मैंने अपना परिचय दिया। उन्होंने एक खालिश लंदनवासी की तरह चेहरे पर मुस्कुराहट बटोरी और लंदनवासी की तरह ही तटस्थ भी हो गए।

दूसरी मुलाकात सलमान साहब के घर पर हुई। पाकिस्तानी मूल के लेखक थे सलमान साहब। उनके बाप-दादा लाहौर से गए हुए थे जिनकी स्मृतियों में अविभक्त हिंदुस्तान बसता था। सलमान साहब ने यह 'एका' वहीं से इनहेरिट किया था, वैसे लंदन में हिंदुस्तान क्या और पाकिस्तान क्या! सभी दक्षिण एशियाई.... दक्षिण एशियाई लेखक ही वहां समवेत हुए थे, दोस्ती के नाते रामजे साहब भी...! मैंने उस दक्षिण एशियाई वृत्त से धीरे से किनारा किया और रामजे साहब के पास आ गया, 'और सर राम जी!'

'नौ, काल मी ओन्ली रामजे!'

'सॉरी! सो रामजे, कैसे हैं ?'

'फाइन!' उन्होंने अंग्रेज़ी अदा में कंधे उचकाए, इस तरह कि उन पर पड़ी सारी धूल झड़ जाए।

बातचीत के क्रम को आगे बढ़ाने के लिए मैं कोई उपयुक्त तरीका ढूंढ रहा था, मगर इसका मौका दिए बगैर उन्होंने अपना जाम उठाया और एक गोरी महिला की ओर बढ़ गए।

यह दूसरी बार था कि उन्होंने मुझसे अनात्मीय बर्ताव किया। ठेसुआ कर मैं खड़ा रह गया तनहा। दूसरे लेखकों से मिलता रहा लेकिन दिमाग में वही चढ़े रहे। सलमान साहब का उर्दू शायरी का गंभीर विमर्श भी मुझे बांध न सका। रामजे से अलग होते ही मुझे लगा कि रामजे का पीछा करना चाहिए। शर्मा से अपनी तकलीफ बताई तो उसका पंजाबी डैशीनेश उबल उठा। कार की ओर बढ़ते हुए रामजे साहब को उसने आगे बढ़कर घेरा, 'मे वी हैव ए कप ऑफ कॉफ़ी विद यू सर ?'

रामजे फिर ज़िंदादिल हो उठे थे, 'क्यों नहीं! कब आ रहे हैं ?' 'सैटरडे मार्निंग!'

शनिवार सुबह आठ बजे शर्मा के साथ मैं रामजे साहब के घर गया तो कुत्ते की भौंक ने स्वागत किया। कॉफी तो हाज़िर थी, लेकिन साहब नदारद! साहब की जगह साहब की स्लिप थी, 'क्षमा करेंगे। अपनी बेटी को सी ऑफ करने मुझे ऐन वक्त पर विक्टोरिया जाना पड़ रहा है। एन्ज्वाय युओर कॉफ़ी!'

यह एन्ज्वायमेंट यानी कि एक प्याला कॉफी और सैंडविच पेश कर रहा था उनका 18-20 साल का नौजवान गोरा लड़का, जिसने शर्मा से तो आत्मीयता से बात की लेकिन मुझसे बेगाना बना रहा। मेरे पूछने पर अनिच्छा से खुद को 'रोबिन' के रूप में इंट्रोड्यूस किया और बिलावजह अंदर धंसने की इजाजत दिए बग़ैर अपने एग्जाम का हवाला देकर बगल के रूप में जाकर कैद हो गया। अब हम थे और उनका घर था।

कमरे में गुलाबी कार्पेट बिछा था, दीवारों पर हल्के गुलाबी वाल पेपर्स। दोनों ओर एक-एक आलमीरायुक्त शो केस, सामने स्टैंड पर टीवी सेट रखा हुआ था जिसके नीचे ऑडियो, वी.डी.ओ. कैसेट और सीडी पड़े थे। दीवारों पर दो पेंटिंग्स थीं। एक एलिजाबेथयुगीन लंदन की, एक अन्य पेंटिंग्स के बारे में अपनी कोई वाकफियत नहीं। शर्मा ने किसी फ्रांसीसी चित्रकार का नाम लिया, जो मैं जल्द ही भूल गया। शो-केस में अच्छी जिल्दों में किताबें थीं मगर किताबों से ज्यादा स्पेस 'एफिल टावर', 'टावर ब्रिज', 'स्टैच्यू ऑफ लिबर्टी', 'ताजमहल' की अनुकृतियां घेर रही थीं। एक ध्यानस्थ प्रतिमा भी थी, पता नहीं, शिव की या बुद्ध की। शर्मा ने बताया कि यह प्रतिमा रोहन जी अपने भारत भ्रमण के दौरान ले आए थे और ताजमहल को रामजे और उनकी पत्नी एनी अपने भारत भ्रमण के दौरान।

'मगर एनी जी हैं कहां ? दिखीं नहीं!' मैंने शर्मा से पूछा।

'बाज़ार-वाज़ार, बैंक-वैंक गई होंगी। पच्चीसियों काम हैं जिन्हें खुद ही करने होते हैं, भारत की तरह नौकर तो होते नहीं यहां।'

'विक्टोरिया भी जा सकती हैं, बेटी को सी-ऑफ करने।'

'मे बी। चलो रोहनजी से मिलकर वापस चलते हैं।'

'रोहन जी.... ?'

'अरे रामजे के बाप!'

'कहां ?'

'बगल के कमरे में।'

उभरी हड्डियों, पनियाली आँखों, झूलते गोरे चामों और पके घुंघराले केशों वाले अस्सी-पचासी के रोहन जी, जो काउच पर बैठे थे या बिठाए गए थे। बाद में मैंने जब भी देखा, उसी काउच पर उसी मुद्रा में देखा। शर्मा ने जाकर उनके पांव छुए। देखा देखी मैंने भी.... रोहनलाल जी पक्षाघात के शिकार थे साफ़ बोल नहीं पाए। शर्मा ने बताया कि रामजे की मां ने काफ़ी पहले तलाक लेकर टोबैगो में अलग घर बसा लिया था, 'तब से अकेले हैं। भारत से रोहन लाल जी ज्यादा जुड़े

हुए थे और संयोग देखिए कि वे ही पैरालाइज्ड हैं।'

लंदन के आम घरों की तरह यह भर भी शीत से बचने के लिए बाहर खोखली ईंटों से बना था, अंदर काठ से। खिड़कियों पर छज्जे नहीं होने से वे सपाट दिख रहीं थीं।

दाईं ओर एक कुत्ता चेन से बंधा था, पता नहीं, किस नस्ल का और सामने छोटे-से लान में एक झूला पड़ा था, जिस पर बाद में भी किसी को झूलते मैंने कभी नहीं देखा।

लौटते वक्त रॉबिन ने दरवाज़े पर खड़े होकर विदा किया हमें। कुल दस-पंद्रह मिनट में लौट आए हम।

इंग्लैंड में हर किसी को खुली हवा में सांस लेने की इजाजत है लेकिन किसी का भी किसी के रास्ते में आने या ज्यादा रुचि लेने का गावदीपना नहीं चलता, शर्मा ने यह मुझे अच्छी तरह समझा दिया था।

अगला दिन भी रविवार होने के नाते छुट्टी का दिन था। शर्मा ने बताया कि रामजे साहब का फोन आया था। खुद ही आ रहे हैं पांच मिनट में। पांच मिनट बीतते न बीतते बाहर कार के पार्क करने और कुत्ते के भौंकने की आवाज हुई। देखा तो फाटक खोलकर रामजे साहब झुके-झुके चले आ रहे थे।

'कोई तकलीफ़ है आपको ?' मैंने टोका।

'कमर में दर्द। मेडिकल चेकअप के लिए जाना है।'

'पिछले महीने भी तो आपने कराया था।' शर्मा ने पूछा।

'दवा खाता हूं तो आराम रहता है, फिर जैसा का तैसा।'

'क्षमा करें, आपने एलोपैथी के अलावा भी कुछ ट्राइ किया था ?' मैंने पूछा।

उन्होंने मेरे सवाल को नज़रअंदाज़ करते हुए कल अपनी अनुपस्थिति के लिए खेद प्रकट किया, 'मुझे याद ही नहीं था कि रोजी को कल ही जाना था। एनी वे, आप लोगों को कोई ज्यादा तकलीफ तो नहीं हुई ?'

'तकलीफ की बात तो है ही।' शर्मा अपने हंसमुख अंदाज़ में बोल उठे।

'क्या ?'

'आपकी सेहत।'

'डॉक्टर के सिवा इसे कौन ठीक कर सकता है ?'

'मैं कोशिश करूं ?' मुझे बातचीत में घुसने का फिर मौक़ा मिल गया था। 'मुझे भी दर्द रहा करता था कमर में, आसन से ठीक हो गया।'

'फिजियोथिरैपी से ? वो मैं कर चुका हूँ।' वे फिर मुझे अवायड करने लगे।

'एक बार इनका नुस्खा भी तो आजमा कर देख लीजिए।' शर्मा ने कहा।

मैंने वहीं कारपेट पर थोड़ी स्पेस बनाई और भुजंग आसन, धनुरासन, गोमुखासन, अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन और कुछ पीटीज करके दिखाए। 'आप एक बार खुद ट्राइ कीजिए तो।'

थोड़ी हिचकिचाहट के बाद वे तैयार हो गए।

भुजंग आसन से शुरू किया उन्होंने। कमर पर जोर पड़ा।

'स्पाइनल कॉर्ड सीधा रहे और ईजी। नो जर्क! ईजी! ईजी!....'

आश्चर्य वे दूसरे दिन भी आए। तीसरे दिन उन्होंने खुद मुझसे अपने घर चलने का इसरार किया। मिसेज शर्मा ने शर्मा को धीरे से चिकोटी काटी। शर्मा मुस्कुराए।

वही तिकोनी छत, खोखली ईंटों का घर, बाहर सूना पड़ा झूला, अंदर वही मद्धम गुलाबी वाल पेपर्स जिनका रंग नीचे कार्पेट तक आते-आते संघनित होकर गाढ़ा गुलाबी हो गया था वही आलमीरा कम रैक, वही किताबें, वही सारा कुछ। तीन दिनों में कुछ भी नहीं बदला था। फर्क़ अगर कहीं था तो यह कि तब रोबिन था, अब रामजे दंपति, तब यह घर मेरे प्रति बेरुखा था, अब अपेक्षाकृत नरम! टस्की हुई लाल गोराई वाली मध्यम कद की प्रौढ़ा श्रीमती एनी एप्रॉन बांधे आ-जा रहीं थीं। उनसे अंग्रेज़ी में बस अभिवादन और परिचय भर की संक्षिप्त-सी बातचीत। बारमुडा पहने रामजे साहब वैक्यूअम कलीनर से कमरे की सफ़ाई कर रहे थे। बीस मिनट में काम सलटाकर आ गए और कारपेट पर मेरी देख-रेख में आसन करने लगे। आते वक्त मैंने उन्हें पेट साफ करने के लिए सुबह-सुबह गुनगुने पानी के भरपूर इस्तेमाल की सलाह दी और आसन करने के पहले बॉडी को मार्निंग वॉक से वार्म कर लेने की हिदायत भी।

ज़्यादा समय नहीं था हमारे पास लेकिन उसी संक्षिप्त अवधि में ही उनका भरोसा जग गया मेरे नुस्खे पर और मुझ पर भी।

वह सातवां दिन था जब वे मुझे अपनी कार में थियेटर छोड़ने आ रहे थे। कार में मद्धम सुर में गीत बज रहा था — मेरे देश में निकला होगा चांद....! कार उनकी पत्नी एनी ड्राइव कर रही थीं।

'मिस्टर रामजे!'

'यस!' उनकी मुंदी पुतलियां खुल गईं और त्यौरियां चढ़ गईं।

'आप जब आँखें मूंद लेते हैं तो आपको अपने देश का चांद दिखाई पड़ता है ?'

रामजे साहब की आंखें मुझ पर टिक गईं, 'कहां का चांद-लंदन का ?'

'ना।'

'यूगांडा का ?'

'ना।'

'साउथ अफ्रीका, टोबैगो, मॉरीशस का.... ?'

'इंडिया का, मेरा मतलब इंडिया के उस गांव के चांद से है, जिसको कभी आप के एनसेस्टर्स बिलांग करते थे।'

'इनफैक्ट नो।'

हालांकि वे गर्मियों के दिन थे, फिर भी तापमान 12 डिग्री सेण्टीग्रेड था, शाम के साढ़े सात बज रहे थे फिर भी शाम होने में अभी तीन घंटे बाकी थे। उसी तर्ज पर यह भी कहा जा सकता था कि हालांकि वे भारतवंशी थे फिर भी अभारतीय थे।

टेम्स पार कर रहे थे हम। नुकीला पार्लियामेंट किसी मध्ययुगीन योद्धा-सा खड़ा था, 'लंडन-आइ' का बड़ा-सा छल्ला टेम्स की नाक पर झूल रहा था। यह 'वाटरलू' आ गया। 'यूरो स्टार' द्रुतगामी ट्रेन का इंजन थोड़ी ऊंचाई पर खड़ा था। 'इंगलिश चैनेल' के नीचे-नीचे भूगर्भ सुरंग लंदन से पेरिस को जोड़ती है। दोनों ओर से सुरंग खोदी गई थी। ऊपर समुद्र की तमाम आवर्जनाओं, अवरोधों को धता बताते हुए सहस्त्रों वर्षों की शत्रुता को भेद कर दोनों पक्षों ने आख़िरी दीवार तोड़कर हाथ मिलाए थे और यहां.... ? मैं अपनी ही जड़ों से पूरी तरह नहीं जुड़ पा रहा था। और क्या विडंबना कि जबकि हमारे, उनके बीच सारे तंतु, सारे सेतु टूटे हुए थे तो फिर हमारे और उनके बीच वह क्या था जो उन्हें मुझसे क्षीण धागे से जोड़ रहा था— कमर का दर्द।

'आपकी वाटर थिरैपी तो कमाल की चीज़ है। वर्षों से मैं कांस्टिपेशन का मरीज़ रहा। चार ही दिन में... जो काम लंबे-लंबे ट्रीटमैंट और कोस्टली दवाएं न कर सकीं, वह इतने सस्ते में... ?' रामजे ने कहा।

'ग़रीब देश है मेरा, नुस्खा भी उसी स्तर का। वैसे आप अगर भारत कभी आएं तो वहां बिहार के मुंगेर में 'इंटरनेशनल योगा इंस्टीट्यूट' है,' मैं उत्साहित था।

'ये कहां है ?'

'अपने सुलतानपुर से ज़्यादा दूर नहीं है, वैसे सुलतानपुर तो आप गए ही होंगे ?'

चुप हो गए थे। वे उनकी चुप्पी मुझे आशंकित करने लगी, कहीं चिढ़ न जाएं.... लेकिन नहीं, मूड अच्छा था, इस बार बोले तो जैसे वर्क उलट गया हो, 'दो बार मैं वहां हो आया हूं। पहली बार, डैड लिवा गए थे। मैं छोटा था— इतना बड़ा। ' उन्होंने हाथ के इशारे से जो कद बताया वह आठ-दस साल के लड़के का था।

'वो याद नहीं पूरी तरह से। हां, दूसरी बार एनी की जिद पर।' 'चलो तुम्हारे रूट्स देखते हैं'। वो याद हैं।

उफ्फ, ट्रेन की वो भीड़.... ढेर सारी बदहाली के बाद, क्या बोलते हैं, हां इक्का तो इक्के पर गांव पहुंचे तो सारा गांव जुट आया देखने— मुझे कम, एनी को ज़्यादा, ऐज इफ, इट वाज समथिंग स्पेशल एंड एम्यूजिंग फार देम!... बट इट वाज ए ब्लंडर, मुझे नहीं जाना चाहिए था। वहां जाने पर मुझे अनुभव हुआ।

'क्यों सर ?'

'वो इस तरह कि....' वे ठमक गए जैसे अभी भी कोई झिझक उन्हें रोक रही थी, फिर कुछ सोचकर बोले, 'शर्मा ने बताया ही होगा कि किस तरह वर्षों पहले हमारे एनसेस्टर्स क्या कहते हैं....'

'पूर्वज!'

'हां, हमारे पूर्वज इंडिया से बाण्डेड लेबरर बनकर मारीशस गए थे।'

'जी! मेरा दिल ज़ोरों से धड़क उठा, जिस भटके हुए सूत्र को पकड़ने के लिए मैं लगातार कवायदें करता रहा, उसे वे खुद मेरे हवाले कर रहे थे।'

'मैंने अपने डैड और ग्रैण्ड फादर से सुना है, बहुत पावर्टी और ऑप्रेशन था।'

'जी।'

'बट, हमारे चले आने के बाद परिवार के कुछ लोग बाहर गए, अर्न किया और कुछ प्रॉपर्टी जोड़ी। वो प्रॉपर्टी हमारे लोगों के नाम पर भी चढ़ी, ज्वाइंट फैमिली थी। अब जब कि डेढ़ सौ साल बाद मैं वहां एनी के साथ गया तो इतने दिनों में डेढ़ सौ टुकड़े हो गए थे और ये टुकड़े आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे — गांव के पुराने दुश्मनों से भी, खुद आपस में भी...! बट वन थिंग वाज कॉमन इन देम-फीयर! डर! सारे ही डर रहे थे कि कहीं मैं अपनी प्रॉपर्टी क्लेम न कर बैठूं' या दूसरे फैक्शंस से मिलकर कोई कांस्पिरेसी न कर बैठूं।' उन्होंने एक गहरी सांस ली, कुछ देर तक चुप रहे। फिर बोले, 'दूसरी प्रॉब्लम कास्ट की! जो भी आता एनी के बारे में सवाल करता, 'किस जाति की है ? सुना है, विलायत में भारतीयों को भंगिन या धोबन ही नसीब होती है' कोई कहता, 'क्रिस्तान है और क्रिस्तान में जैसे बड़ी जात वैसे छोटी। सारे ही गाय और सूअर का मांस खाते हैं।'

एनी तक ये बातें मैं न पहुंचने देता लेकिन एक दूसरी ही घटना हो गई। गांव की एक औरत अस्पताल से सिर्फ़ इसलिए भाग आई कि उसके बेड के बगल किसी लोअर कास्ट की लेडी का बेड था।

एक परिवार में एक लड़की की शादी थी। एनी की बड़ी इच्छा थी कि वह शादी देखकर जाएगी। इसी बीच वह जयपुर, आगरा, वगैरह हो लेगी.... बट, एक दिन लड़की की मां आई, बोली, 'रिश्ते में मैं तुम्हारी भाभी लगूंगी। मेरी बेटी की शादी है, परसों इंगेजमेंट है। यह यहां रहेगी तो मुझे डर है, शादी टूट जाएगी।'

मैं अवाक रह गया।

'बनारस में पढ़ने वाले परिवार के लड़कों के लिए एनी का होना एक 'प्राइड' था, गांव के अपर कास्ट वालों के लिए एक मैलिस और इस सो काल्ड भाभी के लिए या लड़के वालों के लिए कलंक! बट द फीयर वाज देयरग्लोइंग जस्ट लाइक ए कॉमेट!'

मैं खुद की उत्तेजना को बार-बार बताने से रोक रहा था कि बनारस में पढ़ने वाला वह लड़का मैं ही था। वे अपनी रौ में बोले जा रहे थे, 'उस डर की वजह भी थी। वो एक कंजर्वेटिव और आर्थोडॉक्स सोसायटी थी, क्या पता किस कास्ट की हो, बीफ भी खा ली होगी 'पोर्क' भी... टायलेट जाने के बाद पानी से धोती न होगी, कागज़ से पोंछ लेती होगी... लाइक दिस एंड दैट!' तो पुरानी पीढ़ी का फीयर और नई पीढ़ी के प्राइड दोनों जिस प्वाइंट पर आकर मिलते हैं, डिप्रेशन और सुपीरियरिटी कॉम्प्लेक्स जहां टकराते हैं, मैं और एनी उस मुकाम पर खड़े थे। एक हारी हुई कौम आत्मनिरीक्षण करना

नहीं चाहती, सिर्फ़ जीतना चाहती है, किसी भी तरह और वह भी फौरन-ढोंग और अज्ञानता पर पलती बदहाल कौम खुद को क्या कहते हैं...'

'श्रेष्ठतम?'

'हां श्रेष्ठतम सिद्ध करने की सुइसाइडल मूर्खता पर कायम है, ईवेन टुडे!'

'फिर क्या किया आपने ?'

'करता क्या ? लौट आया लीविंग काउडांग ऐंड ब्लेन्डेड ट्रैडीशिंस, देयर फीयर, देयर यूरिन, स्टूल, डर्टी वाटर, डर्टी ड्रेस ऐंड आल देयर सैवेजरी!'

'सीजन कौन-सा था ?'

'मत पूछे, यही! चिली समर, फोर्टी सिक्स डिग्री सेन्टीग्रेड।'

'आम पक रहे होंगे ?'

'ओह याद आया, उसके लिए भी एक वार लड़ी गई द थर्ड व्लर्ड वार ऑफ द थर्ड वर्ल्ड! वैसे यहां आम कौन खाता है, अपने टोबैगो में भी यूं ही पक-पककर गिरे रहते थे सड़कों के किनारे!'

'लैट्रीन जाने में दिक्कत हुई होगी?'

'ओ यस!' उनकी आंखें चढ़ गईं, 'मैंने तो किसी तरह मैनेज कर लिया, बट एनी को ज़रूर तकलीफ हुई। खुले मैं लैट्रीन! एक दिन उसे एक सांप दिख गया। अब, यू नो, सांप तो यहां होते नहीं, सांप तो उसने सिर्फ़ जू में देखे थे या फिर पिक्चर्स और फ़िल्मों में, डर कर भाग आई। फिर एक दिन एक मोर दिख गया और वो पंख फैलाकर नाच रहा था।' उन्होंने हाथ से अर्द्धवृत्त बनाया, 'उसे एनजाय करना चाहिए था, बट डर गई। बाद में नाचते हुए मोर को क्लिक करने के लिए जंगल-जंगल भागती फिरी, बट दोबारा उसे नाचता हुआ मोर नहीं मिला।'

कुत्ता भौंक उठा। रामजे ने खिड़की से देखा, 'ओह देखो बातों-बातों में तो मैं भूल ही गया कि रोजी आ रही है, साथ में फ्रेडरिक भी है, तुम्हीं से खास मिलने।' और वे चले गए कुत्ते को संभालने। मैंने देखा श्रीमती एनी और रोबिन के साथ एक गौ-रंगी युवती चली आ रही थी जो रामजे की बेटी रोजी होगी और एक लंबा-सा सुदर्शन युवक जिसे फ्रेडरिक होना चाहिए।

परिचय कराने के बाद रामजे उनसे मुखातिब हुए, 'एक-एक कप कॉफ़ी चलेगी ?'

'चलेगी लेकिन आप रहने दीजिए, हम कर लेंगे।' रोजी ने अंग्रेज़ी में उत्तर दिया।

'अरे मैं बनाऊंगा, देखती नहीं, मेरी उम्र दस साल कम हो गई है।' कहकर वे किचेन में जा घुसे।

कुत्ता भौंक उठा। रामजे ने खिड़की से देखा, 'ओह देखो बातों-बातों में तो मैं भूल ही गया कि रोजी आ रही है, साथ में फ्रेडरिक भी है, तुम्हीं से खास मिलने।' और वे चले गए कुत्ते को संभालने।

कमरे में उस वक्त मैं और फ्रेडरिक भर रह गए। मैं तनिक असहज हो रहा था। फ्रेडरिक ने मुझे उबार लिया, 'आपको जानकर आश्चर्य होगा कि मैं आपको आपकी बुक्स से काफी कुछ जानता हूं, चेहरे से भी, बुक्स में फोटो थे, उनसे।'

'वाकई सरप्राइजिंग है यह तो।' मेरा तनाव टूटने लगा।

'मेरी एक प्रॉब्लम है, सलमान और शर्मा ने बताया कि आपसे बेटर कोई नहीं मिलेगा डिस्कस करने को। आइए न ज़रा झूले के पास चलते हैं।'

हम झूले तक आए। उसने उसे धीरे से झुला दिया और बोला, 'आपसे एक पर्सनल बात पूछनी है।'

'मैं यहां क्यों आता हूं, मालूम यहां एक ही साथ मैं वर्तमान में भी होता हूं, अतीत में भी। एक अजीब सी तनहाई है जो मेरे अंदर कहीं बजती रहती है। क्या, क्यों, कैसी-नहीं जानता, बट, यहां आते ही अंदर से उछलकर बाहर फैल जाती है और मैं उसे एनजॉय करने लगता हूँ।'

'पूछिए।'

'मेरे फोरफादर्स भी इंडिया को बिलांग करते थे।'

'वाह क्या बात है!' 'इंडिया' पर मैंने दोबारा हाथ मिलाए, वह थोड़ी देर तक झूलते हुए झूले को यूं ही देखता रहा फिर बोला, 'मैं टोबैगो में रहता हूं, रोजी से कोर्टशिप चल रही है।'

'यह तो खुशी की बात है।'

'वो तो है लेकिन मुझे बताया गया कि....' वह फिर अटकने लगा था।

'हां-हां कहिए।'

'कि मेरे फोरफादर्स 'समार' थे। आप राइटर हैं, इंडिया से हैं, सोचा कि जान लूं कि यह 'समार' क्या होता है।'

'समार....' ? कहीं यह 'चमार' तो नहीं ?'

'ओ यस, दैट मे बी!'

'ठीक है तो.... ?'

'जानना चाहता हूं कि यह 'समार' या 'चमार', इफ इट हैपेन्स सो, कौन लोग होते हैं — उनका सोशल स्टेटस क्या है इंडिया में। प्रेमचंद के लिटरेचर में तो....'

'पहले वैसा ही था। लेकिन अब काफी कुछ बदलाव आ गया है, डॉ. अंबेदकर, जगजीवन राम... बहुत से रेस्पेक्टिबल लोग हुए हैं, इवेन नाउ, कई तो मिनिस्टर्स भी हैं। वैसे लोअर लेबेल पर....'

उसे जितना सुनना था, उसने सुन लिया मेरी बात को बीच से ही काटते हुए बोला, 'आपने मुझे एक बड़ी उलझन से उबार लिया।' उसने झूले को ज़ोर से झुला दिया और अंदर भागा।

सैंडविच खाते-खाते कॉफ़ी सिप करते उसने कौवे की तरह कई बार गर्दन मोड़ी और नृत्य की मुद्रा में हल्के-हल्के थिरकता रहा। सबसे मिलने के बाद वह एक बार फिर मुझसे मिला, 'सर आपने मेरी एक बहुत बड़ी प्रॉब्लम सॉल्व कर दी। मैं बता नहीं सकता कि मुझे कितना बल मिला है। मैं तो समझता था कि... आय मस्ट कम टू इंडिया। मैं इंडिया ज़रूर आऊंगा अब!'

किब्ल इसके कि मैं बात को थोड़ा और साफ़ कर पाता उसने मुर्गे की तरह अपनी गर्दन फुलाई और अपनी मोटर साइकिल पर बैठकर सूंऽऽऽ!

लेकिन वह ठहर ही जाता तो क्या मैं बात को पूरी तरह साफ़ कर पाता ? फ्रेडरिक अपने पूर्वजों को भारत में जहां छोड़ आया था, वहां से आज कितनी दूरियां तय कर आया है — वर्षों की नहीं, सदियों की दूरी! वे पहचान पाएंगे इसे या यह पहचान पाएगा उन्हें ?

मेरी दुविधा झूले पर झुलती रह गई। उसकी आंखों में वही भाव था जो पीठ के दर्द से मुक्ति के समय रामजे के चेहरे पर था।

इस बीच रामजे साहब का पूरा परिवार गर्मी की छुट्टियां मनाने कॅन्ट्रीसाइड चला गया। मेरे प्रवास की अवधि ख़त्म होने को आ रही थी। अगले सप्ताह मुझे लौट जाना था। अभी तक कायदे से उन्हें टटोल भी न पाया था, ज़मीन बननी शुरू ही हुई थी कि तारतम्य टूट गया। ऐसे में एक दिन उनका फ़ोन आया, 'मैं यहां सेंट अलबांस से बोल रहा हूं। इंग्लैंड की आत्मा को देखना हो तो चले आओ।'

'मेट्रो' से वहां पहुंचा तो स्टेशन पर खुद रिसीव करने आए थे। पानी बरसकर थम चुका था। हवा में कुछ ज़्यादा ही ठंडक थी। शाम को वे कैथेड्रल के शेषांत में स्थित एक पब में बैठते थे। अभी नौ ही बजे थे, चारों ओर हरियाली के सैलाब में एक शांत तपस्वी की तरह खड़ा था कैथेड्रल। ऊंची-नीची धरती। ऊंचे-ऊंचे पेड़, बादलों से अटा पड़ा आकाश। घास पर पानी की बूंदें हैं। रेशमी उजाला, मखमली अंधेरा। शायद साहिर की पंक्तियां हैं। इतनी गहरी शांति थी कि यह एहसास तक लुप्त हो जाए कि इसी से थोड़ी दूर पर लंदन का सदागुलज़ार महानगर है, जहां ऑक्सफोर्ड स्ट्रीट, ट्राफल्गर स्क्वायर और टेक्स के साउथ प्वाइंट के थियेटर्स में भीड़ होगी, सो-हो की रूपजीवाएं ग्राहकों के लिए सज रही होंगी, बकिंघम पैलेस से लेकर हाइड पार्क और विक्टोरिया।

सारी गलियां उमड़ रही होंगी, प्रपात की तरह नीचे 'मेट्रो' में गिर रही होंगी, दूर-दूर बह रही होंगी। एक आधुनिक और सुसंस्कृत दुनिया से दूर जीवन यहां अपने आदिम और प्रकृत अवस्था में था। सामने लेक था, लेक में तैरती हुई बत्तखें और सन्नाटे में तैरते हुए हम।

अचानक धूप झलकी। पीली चांदनी जैसी धूप! यह देर से अस्त होने वाले सूरज की धूप थी जो उनके चेहरे पर पुत रही थी। रोमन आक्रमण काल की ढहती चहारदीवारियां, टीले सब पर चमकती धूप और उनके सामने उनका पीलेपन में नहाया चेहरा, पीछे, बहुत-बहुत पीछे का कालखंड चमक रहा था जैसे।

मेरे अपने हिसाब से उन्हें मेरा चाचा होना चाहिए था या भाई। उस एकांत पब में अकेले जाम लिए बैठे थे। सदियों पुराना पब भी उन्हीं की तरह वीरान हो रहा था। इतना वीरान कि हम दोनों अपनी सांसों और कपड़ों की सरसराहटों तक को सुन सकते थे। रोमन अवशेष, झील, बत्तखें, हरियाली अब अंधेरे में डिजॉल्व होते जा रहे थे लेकिन यह भी इतना धीरे-धीरे हो रहा था जैसे जीवन बीता जाए और बीतने का अहसास न हो।

उनका जाम रीत चुका था। खाली जाम में पता नहीं क्या देख रहे थे।

'परसों मैं वापस जा रहा हूं' मैंने चुप्पी की काई में ढेला फेंका।

'हूं!' फिर वही चुप्पी।

'आपकी कमर का दर्द अब कैसा है?'

'ठीक है।'

'तो भारत कब आ रहे हैं ?'

जवाब में फिर वही चुप्पी। रात कहूं या शाम, साढ़े ग्यारह बज चुके थे। आकाश में चांद उग आया था शायद। सहसा उन्होंने अपने झुके चेहरे को उठाया।

कोई फ़ोन कॉल था। उन्होंने मोबाइल निकाल लिया। संबोधन से मैंने जाना कि रोज़ी का था। उनकी गोपनीयता के लिए मैं वहां से हट गया। लौटा तो उनके चेहरे पर की गंभीरता कुछ और गाढ़ी हो आई थी। रोज़ी की ज़िंदगी से जुड़ी निश्चय ही कोई ऐसी बात होगी जो उन्हें अप्रिय लगी होगी। क्या हो सकती है वह बात ? कहीं ऐसा तो नहीं कि रोज़ी का फ्रेडरिक से मिलना उन्हें नापसंद था। कुछ भी पूछना उनकी निजता में सेंध लगाने जैसा था और वह खासा ख़तरनाक हो सकता था।

अचानक मुझे याद आया, रामजे साहब की या दूर तक खींचूं तो हमारी उस वंश वेलि में लड़कियों के इतिहास का कोई ज़िक्र नहीं, कहां गईं, किस हाल में हैं।

आसमान में बादलों के बीच ज़रा-सा चांद का चेहरा झलका। रामजे ने चांद को देखा और चेहरा झुका लिया। सहसा उन्होंने अपने झुके चेहरे को उठाया। चितकबरी छायाओं का तिलस्म सरसराया, 'तुमने उस दिन पूछा था न, मेरे देश में निकला होगा चांद...?'

दरअसल इन बादलों में अब कहीं का चांद दिखाई नहीं देता। सारे परिचय फना हो गए। मुझ तक जो थोड़ा-बहुत बचा है, वह भी फना हो जाएगा। हम जलकुंभियां हैं, जलकुंभियां! जड़ें टटोलने चलते हैं तो नीचे ज़मीन नहीं मिलती। धाराओं में बह रहे हैं। किस घाट जाकर लगेंगे, कितने दिन — कुछ पता नहीं। यू नो, हवा की पेटियों, ओसेन करेंट्स और सरफेस मूवमेंट्स की तरह ही जातियों का भी एक प्रवाह है, चलता रहता है। मेरी आँखों में कोई खास देश नहीं बसता, एक... वो क्या कहते हैं, हां बियाबान चिलचिलाता है। मरीचिका की तरह कभी कुछ उतराता है, कभी कुछ.... सब कुछ हेजी, धुंधला! तुम्हारी हिंदी में एक राइटर है, राजेन्द्र यादव, उनका एक नॉबल है 'उखड़े हुए लोग' हम वही हैं। इनफैक्ट हम सब वही हैं।'

हम अब कैथेड्रल के बगल की चढ़ाई धीरे-धीरे चढ़ रहे थे। शायद वे हांफ रहे थे। दम लेने को रुके। चर्च की घंटियों ने एक-एक कर बारह बजाए जैसे कोई स्वर टंकार अंधेरे से उभरे और डूब जाए। 'फार हूम दे बेल्स टॉल ?' मैंने धीरे से कहा।

उन्होंने कोई प्रतिक्रिया न व्यक्त की। अपनी मुरझाती चमक वाली आंखों से पीछे छूट रही आधी रात की प्रगाढ़ शांति को देखा, 'मैं यहां क्यों आता हूं, मालूम यहां एक ही साथ मैं वर्तमान में भी होता हूं, अतीत में भी। एक अजीब सी तनहाई है जो मेरे अंदर कहीं बजती रहती है, क्या, क्यों, कैसी-नहीं जानता, बट, यहां आते ही अंदर से उछलकर बाहर फैल जाती है और मैं उसे एनजॉय करने लगता हूं।' अब वे चल पड़े थे। कार के पास रुक कर जाने क्या सोचने लगे, फिर बोले, 'एक और बात मैं बताना भूल गया था अपने एनसेस्टर्स के बारे में। वहां से मैं लौट रहा था तो एनी ने हैरान होकर पूछा था, 'तो ये थे तुम्हारे रूट्स ?' मैं कोई भी जवाब देने की स्थिति में नहीं था। क्या पता, कहां थे, मेरे रूट्स! मेरा ख़्याल है, आदमी को अपनी जड़ें नहीं देखनी चाहिएं। पता नहीं कहां-कहां से जीवन-रस सोख रही हों वे.... तब से न उसने कभी पूछा, न मैंने कि किसकी जड़ कहां हैं।

और दूसरे दिन मैं वहां से लौट आया। बिना यह बताए कि हमारे और उनके रूट्स अलग-अलग नहीं, एक ही हैं; बिना यह पूछे कि रिश्ते में वे मेरे क्या लगते हैं; बिना यह टटोले कि वे अपनी जड़ों की ओर लौटना चाहोगे या नहीं... ◆

मुशर्रफ आलम ज़ौकी

उर्दू और हिन्दी दोनों में ज़ौकी साहब की कलम समान रूप से अधिकार रखती है। देश-विदेश की प्राय: हर चर्चित पत्रिका में इस हस्ताक्षर को देखा जा सकता है। तरक्की पसंद इस रचनाकार को उर्दू अदब के लोग बड़बोला कहते हैं लेकिन मुझे तो एक सम्पादक के रूप में इस रचनाकार से रचना पाने में ऐसा कोई अनुभव नहीं हुआ। मेरे एक बार के निवेदन पर ज़ौकी ने मुझे अपनी अप्रकाशित रचना अगली डाक से भेजी। मोहब्बत, वाकई सज़ा नहीं तो क्या है! उर्दू के एक प्रतिष्ठित टी.वी. चैनेल से सम्बद्ध।

संपर्क –
डी-304, ताज एन्क्लेव,
लिंक रोड, गीता कालोनी, दिल्ली-110031

सज़ा-ए-मुहब्बत

बड़े शहरों में झुग्गी झोंपड़ियों की निगरानी के लिए अलग से एक विभाग होता है। मैं उस विभाग से जुड़ा हूं। चूंकि यहां विभागों की तफ्सील बताना ज़रूरी नहीं, इसलिए इसे छोड़ कर असल बात पर आता हूं। इधर झुग्गी-झोंपड़ों में आग लगने की घटनाएं कुछ ज़्यादा हो रही थीं और एक-एक बार में हज़ार झोंपड़ियां जल कर राख हो जातीं, खास कर गर्मी के मौसम में तो शहर में पता नहीं कितने ही स्थानों पर इस तरह के हादसे हो जाते। जब कभी ऐसे स्थानों पर मेरा जाना होता, उन झुग्गी वालों की ज़िन्दगी के कितने ही रौशन पहलू भी मेरे सामने खुल जाते। झुग्गियां जलतीं, दोबारा बसतीं या वार्निंग देकर बुल्डोज़र चलाकर उजाड़ दी जातीं। बेहया पौधों की तरह ये 'प्राणी' फिर किसी बंजर जगह को अपना बसेरा बना लेते। अब बहुत सी झुग्गियों में लालटेन और दीये की जगह लाइट का इंतज़ाम भी था। जांच-पड़ताल के उद्देश्य से कम, यों समझिए उन झोंपड़ियों में रहने वाली 'क़ौम' में मेरी ज़्यादा दिलचस्पी थी। ये कैसे रहते हैं ? बिना किसी ख़ौफ के किस तरह झोंपड़ी की लकड़ी या फूस का विचार किये बिना, आराम से चूल्हा सुल्गा कर खाना बनाते हैं। औरतें मज़े से लीप-पोत कर मिट्टी की छोटी-छोटी कोठरियां बना देती हैं। जैसे ये उनकी ख़रीदी गई ज़मीन हो। पलंग पर बैठे हुए मर्द जलती हुई बीड़ी या माचिस, बिना कुछ सोचे कहीं भी फेंक सकते हैं। ये

इधर झुग्गी-झोंपड़ों में आग लगने की घटनाएं कुछ ज़्यादा हो रही थीं और एक-एक बार में हज़ार झोंपड़ियां जल कर राख हो जातीं, खास कर गर्मी के मौसम में।

सोचे बिना कि उसकी मामूली चिंगारी आग न पकड़ ले और तूफान न खड़ा हो जाए।

ऐसी ही एक छोटी सी जांच-पड़ताल में, मैं गया हुआ था। उस जगह पर लगभग पांच-छः सौ छोटी-छोटी झोंपड़ियां बनी हुई थीं। मैं झोंपड़ी में रहने वाले मर्दों से बातें करता। किसी के झोंपड़ी में झांक कर देखता। जिज्ञासा की छोटी से छोटी बातों में भी मेरी दिलचस्पी हद से ज़्यादा थी। तभी एक अनोखी बात हुई। एक झोंपड़ी से एक बूढ़ा निकला। उम्र 80 वर्ष के आस-पास। गंजा सर, चौड़ा चेहरा, आँखें कमज़ोर मगर बला की गहरी और ज़माने के उतार-चढ़ाव को ज़ाहिर करने वाली। दाएं गाल पर बड़ा सा मस्सा। म्याना से थोड़ा सा क़द ऊंचा। एक फटा सा तहबन्द और गन्दा सा कुर्ता पहने। पांव में एक टूटी हुई चप्पल, कमर से थोड़ा झुका हुआ। बूढ़े की नज़र अचानक मेरी तरफ़ उठी। लंगड़ाता हुआ वो एक तरफ बढ़ा और मैं सन्नाटे में रह गया। अचानक मेरे ज़ेहन में बरसों पुराना एक नाम कौंधा.... मसीता।

मैं तेज़ी से बूढ़े की तरफ लपका।

''तुम मसीता हो न.... ?''

बदले में बूढ़े के मुंह से अजब सी घड़घड़ाने की आवाज़ निकली। उसके दोनों हाथ जोश से फड़फड़ा उठे। घड़घड़ाने की आवाज़ से मैंने समझा कि बूढ़े ने 'हां' कर दी है। वो चारपाई पर बैठ गया और अपनी चौंधियाई आंखों से गौर से मेरी आंखों में झांकने लगा। लेकिन इतने बरसों बाद उसे मेरी आँखों में पढ़ने के लिए मिलता भी तो क्या मिलता। लेकिन मेरी आँखों में एक छोटा सा गांव रेंग गया... उमापुर। उस वक्त मैं बच्चा था और मसीता उम्र में अधेड़पन की नाव 'खे' रहा था। अब मैं अधेड़ होने को आया हूं ज़िन्दगी में कभी सोचा भी नहीं था कि इस तरह अचानक इस शहर में मसीता से इन झुग्गी-झोंपड़ियों में मेरी मुलाकात हो सकती है।

उस वक्त मसीता को लेकर गांव में कितनी-कितनी और कैसी-कैसी बातें हुआ करती थीं। कभी-कभी उसके बारे में सोचता हूं तो वो मुझे लोक-कथाओं का हीरो मालूम होता है। बचपन के सुने-सुनाए किस्से एक दम से हुए मेरी आंखों में ज़िन्दा हो गए थे।

''मसीता। जा। जा तेरी लाजो की डोली गई है''

''लाजो तेरे लिए पोखर में झुनझुना लेकर गई है मसीते....''

''मसीते! तुझे पंघट पे बुलाया है लाजो ने।''

गांव की औरतें छेड़तीं और मसीता तुरन्त सच समझ कर भाग खड़ा होता। उस वक्त वह कमसिन था। दाएं पैर में हल्का सा लंग था। आंखें ग़ज़ब की चमकदार हो चुकी थीं। उस वक्त उस के बाल बड़े-बड़े और झबरे थे। मुस्कुराता तो दोनों गाल फाड़ कर और बतीसी निकाल कर। दोनों हाथों को झटक कर वो तेज़ दौड़ लगाता। औरतें खूब हंसती और उसे भागता देख कर गातीं —

''राजा की छोकरी पे नीयत है फ़िसली

राजा मसीता की क़िस्मत है लंगड़ी''

राजा जी कोई राजा जी नहीं थे। लेकिन गांव के सबसे बड़ी आदमी थे। उनकी एक ही लड़की थी लाजो... राजा के पास गांव के कितने ही ग़रीब किसानों की ज़मीन पट्टे पर पड़ी थी। राजा जी थे भी तबीयत के सख़्त आदमी और कहां लाजो। नाज़ो-नख़रे में पली हुई लड़की। हमेशा नया चमचमाता और ऐसा लिबास पहनती जो गांव वालों ने कभी न देखा हो। तितलियों की तरह उड़ती फिरती और मसीता था कि लाजो पर आशिक़। जी-जान से फ़िदा। लाजो का एक बड़ा भाई था। जो मसीता के क़िस्से सुन-सुन कर उसका दुश्मन बन गया था।

मसीता का बाप 'मश्कीज़ा' से पानी पिलाने का धंधा करता था। ये उसका खानदानी पेशा था। उस वक्त वहां पर नल और कुएं नहीं होते थे। सिर्फ एक बड़ी सी चरख़ी वाला कुआं। राजा जी के चारदीवारी में था। मसीता का बाप मश्कीज़ा में पानी ला ला कर घर-घर पहुंचाता और उसी से अपनी रोज़ी-रोटी कमाता। पता नहीं कब-कैसे कहां मसीता ने लाजो को देख लिया। अब वो जहां-जहां जाती, मसीता पीछे-पीछे जाता। दूर-दूर से उसे टकटकी बांधे देखता रहता। लाजो की सहेलियां जब कभी उसे मसीता के बारे में बतातीं तब लाजो चुप ही रहती। इतने बड़े घर की लड़की और कहां मसीता जैसा अनपढ़, गंवार, जाहिल। और उस पर से पैर में हल्का सा लंग। दाएं गाल पर बड़ा सा मस्सा। वह शक्ल से भी बेवकूफ मालूम होता। लेकिन लाजो ने कभी मसीता की मौजूदगी का बुरा नहीं माना, न ही सहेलियों को कभी टोका। कभी-कभी ऐसा भी होता कि पोखर पर लाजो और उसकी सहेलियां बैठी हैं और मसीता अचानक कहीं से निकल कर आ जाता और उन्हें देख कर खीस निपोड़ने लगता। सहेलियां तो गुस्सा हो जातीं मगर लाजो हंस पड़ती और मसीता खुश हो जाता।

''खों-खों....''

उस वक्त तक उसकी आवाज़ साफ़ नहीं थी। वो दोनों हाथों को पीट-पीट कर खुशी का इज़हार करता। अगर बहुत खुश होता तो मुंह से अजीब सी चीख़ निकालता हुआ, लंगड़ाता वहां से भाग खड़ा होता।

उस ज़माने में मसीता की आशिक़ी के किस्से दबी-दबी ज़बान में सर निकालने लगे थे। लाजो का भाई काफ़ी गुस्से में था। मसीता के बाप की थोड़ी सी ज़मीन राजा जी के यहां पट्टे पर पड़ी थी। मसीता और लाजो के किस्से की भनक जब राजा जी को मिली तो वे अपनी बड़ी सी दो-नाली बंदूक ले कर मसीता की कच्ची मिट्टी वाले मकान में शेर की तरह दहाड़ते पहुंचे। बंदूक सीधी की।

''कहां है मसीता ?''

लंगड़े मसीते का बाप बफ़ाती कांपता हुआ बाहर निकला।

''माई-बाप, गल्ती हो गई। अंजान लड़का है। दिमाग से भी हल्का है।''

राजा जी की गरज तेज़ हुई। ''सारे गांव में किस्से निकल रहे हैं। इसे यहां से दूर कर।''

''माफ कर दो राजा जी।''

''बफ़ाती राजा जी के पैरों में गिर पड़ा।'' आपका ख़िदमतगार नौकर जो ठहरा। माफ़ कर दीजिए।''

राजा जी गुस्से में कांपते रहे। ''आगे ऐसा हुआ तो नतीजा तुम ही भुगतोगे। लेकिन इतना जान लो कि तुम्हारे पट्टे की ज़मीन का कागज़ मैंने फाड़ दिया...'' इस घटना के दो-तीन दिनों तक मसीता घर से बाहर नहीं निकला। तीन-चार दिन बाद नज़र आया तो उसका सारा बदन सूजा हुआ था। आंखें फूल गई थीं। मालूम हुआ कि बफ़ाती ने उसे काफी मारा-पीटा है।

''मसीते.... मसीते...''

वो अपने ख़ास अंदाज़ में दोनों हाथों को लहराता-लंगड़ाता निकला तो गांव की औरतें ख़ुद को रोक न सकीं। वो सर नीचा किए हल्के-हल्के लंगड़ाता एक तरफ़ बढ़ता रहा। औरतों की दिल्लगी जारी रही— ''मसीते उधर जा। तेरी लाजो की डोली गई है। मसीते वो तेरे लिए झुनझुना लेकर गई है। झुनझुने से खेलेगा मसीते ?''

मसीते सुनता रहा। अचानक पलटा। ज़मीन से एक बड़ा पत्थर उठाया और अंधाधुंध आवाज़ की तरफ़ उछाल दिया। जिधर उछाला, उधर से एक तेज़ चीख़ उठी। मसीता तेज़ी से भागा। लंगड़ाता हुआ घर आया। अम्मा ने दरवाज़ा बन्द होने की आवाज़ सुनी तो धक से रह गई।

तब तक दरवाज़े पर मुहल्ले वालों की कितनी ही थाप पड़ चुकी थी।

''चल, बाहर आ मसीते।''

''कमबख़्त पत्थर मार कर भाग आया।''

अम्मा ने मसीते को धकेला। दरवाज़ा खोला। अल्लाह रसूल का वास्ता दिया।

मसीते ने जो पत्थर उछाला वो गांव की एक औरत भागवती को लगा। भागवती के सर से काफ़ी ख़ून निकला और मसीते की काफ़ी धुनाई हो गई। मसीता फिर कई दिनों तक क़ैद में बन्द रहा।

मसीते के हल्के दिमाग को कोसा, लेकिन वो माने नहीं। मसीते ने जो पत्थर उछाला वो गांव की एक औरत भागवती को लगा। भागवती के सर से काफ़ी ख़ून निकला और मसीते की काफ़ी धुनाई हो गई। मसीता फिर कई दिनों तक क़ैद में बन्द रहा।

इधर एक अजीब बात हुई। लाजो निकलती लेकिन चुपचाप परेशान। नज़रें इधर-उधर भटकती रहतीं। पोखर में भी इधर-उधर तलाश करती रहतीं। इतना तो तय था कि लाजो उस से इश्क़ नहीं करती थी। लेकिन कभी-कभी जुनून की हद तक इश्क़ करने वालों के लिए मन में आदर की एक भावना आ जाती है। शायद लाजो उसी का शिकार हुई थी।

सहेलियां बतातीं - ''मसीते को मार पड़ी है।''

''तेरा बाप बंदूक लेकर पहुंचा।''

''मसीते के बाप की पट्टे वाली ज़मीन का कागज़ फाड़ दिया।''

''मसीते ने भागवती का सर फाड़ दिया।''

लाजो ख़ुश हो गई। उसकी आंखों में चमक आ गई— ''वो उसे चिढ़ा रही थी। ठीक किया मसीते ने।''

फिर ये बात भी उड़ी कि लाजो भी दिमाग़ की हल्की है। भला ऐसे गंवार और लंगड़े।

लड़के की आशिक़ी को कौन शह देगा। सहेलियों ने भी अब मसीते के तज़किरे बन्द कर दिए। लेकिन मसीता का लाजो के पीछे जाना बन्द नहीं हुआ। जैसे ही थोड़ा वक्त गुज़रा, उसका धंधा जारी था। बफ़ाती ने कई बार चाहा कि वो भी अब उसके ख़ानदानी पेशे को अपना ले। लेकिन मसीता के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी। उसका दिल तो बस एक ही काम में लगता था। लाजो घर से निकली है या नहीं ? निकली तो कहां गई होगी। वो सारे गांव में धमा-चौकड़ी मचाता रहता। उसका कोई दोस्त यार भी

नहीं था। हां बहुत खुश होता तो चिड़ियों के झुण्ड हाथों से उड़ाता। आमों के बौरों पर पत्थर मारता। कोयल और दूसरी चिड़ियों की आवाज़ की नकल उतारता और वहीं अंदाज....

'खों.....खों.....' उस वक्त तक वो ठीक तरीके से बोल नहीं पाता था। एहसास ज़ाहिर करने के लिए उसके पास आंखें थीं या 'खों.... खों....' था।

उन्हीं दिनों गांव में हैज़े की महामारी फैल गई। हैज़े का मतलब उन दिनों 'खुदाई अज़ाब' या ईश्वरीय प्रकोप था। गांव-गांव साफ हो जाते। मंदिरों में भजन गाए जाते। मस्जिदों में दुआएं की जाती। गांव में अफ़रा-तफ़री मच गई। हैज़े का प्रकोप कितने ही लोगों पर टूटा। मसीते का बाप बफ़ाती भी इसकी लपेट में आया। फिर हैज़ा मसीते की मां को भी ले गया। मसीता रो-पीट कर रह गया। लेकिन अब वो अकेला था। कुछ तो करना ही था। एक दिन वो मश्कीज़ा लेकर, कमर पर बाप की तरह चमड़े की पेटी बांध कर निकला भी, लेकिन वापस लौट आया। कोस भर से पानी लाना उसके बस की बात नहीं थी। लेकिन क्या खाता क्या पीता ? कभी इस दरवाज़े कभी उस दरवाज़े। मां-बाप के उठ जाने का ग़म ताज़ा-ताज़ा था। इसलिए लोग भी रहम खा कर पेट भरने को कुछ न कुछ दे देते। साथ ही साथ दस बातें भी सुनाते कि काम-धाम कर के दस पैसे जुटाना सीख ले। हैज़े का अज़ाब या प्रकोप अब भी जारी था। फिर सुनने में आया कि राजा जी की लाजो बिटिया भी हैज़े की चपेट में आ गई। सब की तरह ये बात मसीते ने भी सुन ली। फिर खों-खों करते रोते-चीखते, उसने सारे गांव वालों को जमा कर दिया। इतने पर भी बस नहीं हुआ तो वो लाजो को देखने का पक्का इरादा कर के उस के घर की तरफ़ बढ़ गया।

अजीब तमाशा था। लोग उसके पीछे-पीछे थे। एक दिलचस्प खेल जैसे लोगों के हाथ आ गया था। राजा जी के पक्के घर के बाहर ही घिघिआई आवाज़ में खों—खों कर रहा था। आवाज़ सुनकर राजा जी अपनी दोनाली बंदूक लेकर गुस्से में निकल आए। लोगों ने समझाया-बुझाया। यहां तक कि मसीते को पीटा भी। बड़े साहब तो जैसे मरने-मारने पर उतर आए थे, लेकिन मसीता अपनी जगह से ज़रा भी नहीं मिला। लेकिन किसी ने लाजो को देखने नहीं दिया। हां, तब एक दिलचस्प बात हुई। हंगामें और शोर-शराबे की आवाज़ सुन कर बहुत कमज़ोर और दुबरी-पतली हो गई लाजो भागती हुई बाहर आई। राजा जी एक तरफ थम से गए। बेटी की जान जैसे मसीता को देखने के लिए ही ठहरी हुई थी। इधर मसीता ने लाजो के खोखले, हड्डी-चमड़ा हो रहे ढांचे को देखा। फिर बेतहाशा भागता हुआ न जाने कहां निकल गया।

उस दिन लाजो मर गई — उस ज़माने में लोग ये मानते थे कि हैज़े से मरने वालों को जलाना नहीं, दफ़नाना चाहिए। ज़्यादातर लोग यही कर रहे थे। सो राजा जी ने भी विचार-विमर्श कर के लाजो को दफनाने का इन्तेज़ाम कर लिया। रोती आंखों से लाजो दफ़ना दी गई। सारे गांव वालों की आंखें नम थीं। लेकिन उसके दूसरे ही दिन एक अनोखी घटना हुई। जहां लाजो दफनाई गई थी, वो गड्ढा खाली था। सारी मिट्टी बाहर थी। और लाजो की लाश भी किसी ने ग़ायब कर दी थी। इस घटना ने जैसे सब को हिला कर रख दिया। अब सब की निगाह मसीते की तरफ थी। मसीते का घर ख़ाली था। फिर तो मसीते की खोज शुरू हुई। राजा जी और लाजो का भाई काफ़ी गुस्से में था। उन्हें समझा-बुझा कर गांव वालों ने घर बैठे रहने दिया और मसीते की तलाश में लग गए।

आख़िर मसीता मिल गया। गांव के ही एक मल्बे नुमा ढाए हुए मकान में— जिस वक्त मसीता की तलाश में चंद लोग वहां पहुंचे तो ये मंज़र देख कर डर गए। मसीता चुप-चाप, लाजो की लाश पर नज़रें जमाये बैठा था। कफन फटा हुआ एक तरफ पड़ा था। माहौल में सड़े हुए जिस्म की बदबू फैल गई थी। ज़मीन पर एक चादर बिछी थी। उस पर लाजो की लाश पड़ी थी। देखने वाले हतप्रभ रह गये। लोग मसीते को मारने के इरादे से आए थे। लेकिन ये क्या। ये कैसी मुहब्बत थी। ऐसी मुहब्बत तो न किताबों में देखी न सुनी। उल्टे पांव वो लोग वापस हुए— राजा जी तक बात पहुंची। राजा जी भी दंग। गांव वालों ने इस बार भी बाप-बेटे को समझा-बुझा कर शांत कर दिया। दो-चार लोगों ने मसीता को बेरहमी से पकड़ा। उसे धक्का देते हुए एक तरफ ले गए। मसीता जंगली भैंसे की तरह गुर्रा रहा था। बार-बार लाजो के मुर्दा जिस्म की तरफ भागता, मुंह से अजब तरह की घों-घों की आवाज़ निकल रहा था।

लाजो फिर दफ़ना दी गई। जहां दफ़नाई गई वहां मसीते के जाने पर पाबन्दी लगा दी गई। मसीता पागल और मजबूर किसी सांड की तरह गुर्रा कर आस-पास के हिस्से में दौड़ता और घूमता रहता और अन्त में एक दिन वो गांव से ग़ायब हो गया। उसके बाद बरसों गुज़र गए। मसीते को किसी ने नहीं देखा।

और सच पूछिये तो गुलामी के ज़माने को लांघ कर जब एक मुद्दत के बाद वह लौटा तो आज़ादी की सुबह हो चुकी थी। ऊपर का हिस्सा गुलामी के जिस काले दौर से जुड़ा था, उसका ज़िक्र मैंने जान बूझ कर ज़रूरी नहीं समझा कि इस गुलामी की ज़िंदगी का ज़िक्र तो इतिहास ने बार-बार करा ही दिया है और कौन है, जो गुलामी की बेड़ियों के इस अपवित्र इतिहास से परिचित नहीं। इसीलिए मैंने जान बूझ कर स्वतंत्रता आंदोलन और उन से जुड़ी बातों से परहेज़ किया है और इस तज़करे में जहां मसीता की ज़रूरत मैंने महसूस की, उसे ही लिखा है। इसलिए ऊपर की कहानी पढ़ते हुए आप अपने ज़ेहन में गुलाम हिन्दुस्तान के इतिहास को ज़रूर ध्यान में रखेंगे।

हां तो जब मसीता की वापसी हुई तो वो कोई 1948-49 का समय होगा। यानी आज़ादी मिल चुकी थी और आज़ादी के तुरंत बाद के हंगामें, विभाजन की

घटनाओं ने आज़ादी के एहसास को जख्मी कर दिया था। कितना कुछ बदल गया था और बदल गया उमापुर भी... कुछ मकान तो कस्टोडियन के हो गए। कुछ लोग औने-पौने बेच कर पाकिस्तान भाग गए...

उमापुर अब पहले वाला उमापुर नहीं था, लेकिन जो लोग अभी पहले के बाक़ी थे, उनके द्वारा मसीता की कहानी ओझल नहीं हुई थी।

और एक दिन कुछ लोगों ने देखा — टक टक करता हुआ दूर से एक एक्का चला आ रहा है और एक्का मास्टर जी की पाठशाला के पास जाकर रुका। उसमें से एक अधेड़ उम्र का मोटा सा आदमी लंगड़ाता हुआ निकला। जिसका हुलिया आप कुछ-कुछ महाभारत के घटोत्कच से लगा सकते हैं। दाएं गाल पर बड़ा सा मस्सा, सर के बाल आधे उड़े हुए। पैरों में लंग, आंखें तजुर्बों से गहरी और भयानक। जिस्म मोटे होने की हद तक फूला हुआ। वो एक्का से उतरा और एक्कावान से पैसे पूछे और पैसे दे चुकने के बाद उसने वहीं खड़े-खड़े गर्दन घुमा कर इधर-उधर देखा। तब तक गांव के ही पुराने मास्टर रविकांत बाबू ने उमापुर आए हुए उस नए मुसाफिर को ग़ौर से देखने की कोशिश की। उस वक्त उसके बदन पर एक तंग सी पुरानी पैंट और ढीली-ढाली शर्ट थी। फिर गांव आने के बाद उसने ये लिबास कभी नहीं पहना। उसका पसंदीदा लिबास तहबंद और कुर्ता ही रहा।

रवि बाबू ने कांपती आँखों और मोटे शीशे वाले चश्मे से उस रहस्यमय यात्री को देखा और ज़ोर से आवाज़ लगाई.... ''मसीते...''

आवाज़ सुन कर दो-चार लोग और भी चौंके।

''मसीते।''

आपस में कुछ काना-फूसी हुई।

मसीता आगे बढ़ा। मास्टर जी ने बाहें पसारीं और मसीते गले लग गया।

''कहां रहा इतने दिनों ?''

फिर मास्टर जी को कुछ याद आ गया। मास्टर जी ने मुंह से कुछ इशारा किया। जैसे पूछ रहे हों— ''भाग कर गया कहां ?'' अब क्या करेगा। इशारा इसलिये किया कि मसीता पहले साफ़ नहीं बोल पाता था। वो बोलने को होता तो आवाज़ घड़घड़ा कर रह जाती।

''सहर रहा सहर—'' मसीता ने क़हक़हा लगाया। — ''सब सहर की बरकत। प्राटैस की। अब देखो। हा... हह... हह....'' मसीता हंस कर बोला तो मास्टर जी चौंक गए।

एक दिन कुछ लोगों ने देखा – टक टक करता हुआ दूर से एक एक्का चला आ रहा है और एक्का मास्टर जी की पाठशाला के पास जाकर रूका। उसमें से एक अधेड़ उम्र का मोटा सा आदमी लंगड़ाता हुआ निकला।

''आवाज़ ठीक हो गई तेरी ?''

''सब सहर की मेहरबानी है''

''अब यहां क्या करेगा ?''

''पहले अपना मकान...''

''मकान....'' मास्टर जी ने उसे ग़ौर से देखा... ''कैसा मकान... वहां तो बड़े साहब की हवेली खड़ी है।''

''बड़े साहब ?''

''हां, वही राजा जी के लड़के।''

मसीता के दिल पर जैसे घूंसा सा लगा। आगे उसने कुछ सुना नहीं। चेहरा अचानक बदल गया। तेज़ दौड़ लगाई। मगर कहां जाता। सारे रास्ते अंजान। जहां एक पीपल का पेड़ था। वो भी कट गया। बड़ा सा कुआं था, वो पाट दिया गया। सुभद्रा मौसी का घर— वो तो कोई दूसरा ही घर था। और ये राजा जी का मकान — लेकिन वक्त के साथ अब उसका नक्शा बदला था।

मसीता की आंखों के सामने अचानक यादों की रेल छुक-छुक कर के गुज़र गई।

उसने देखा लाजो शर्माई-शर्माई सी पनघट की तरफ़ बढ़ रही है। सहेलियां

छेड़ रही हैं। लाजो किसी बात पर तालियां बजा कर हंस रही है। जहां वो खड़ा था, वहां बिजली का बड़ा सा पोल था। अचानक किसी ने पीछे से चुटकी ली।

''मसीता जा-जा, उधर तेरी लाजो की डोली गई है।''

मसीता चौंका मगर मुड़ा नहीं।

अब दूसरी आवाज़ उभरी।

''राजा जी की छोकरी पे नीयत है फिसली

लंगड़े मसीता की किस्मत है लंगड़ी''

अब तीसरी आवाज़ थी... ''जा.... जा.... वो तेरे लिए झुनझुना लेकर गई है।''

फिर हंसी की आवाज़.... मसीते को लगा जैसे अचानक बरसों बाद वो अपने ही गांव में नंगा होते-होते बचा हो। वो अचानक पलटा। उसकी आंखें जल रही थीं। सामने तीन जवान खड़े थे। वो अचानक उसके चेहरे के बदले तेवर देख कर सहम गए। फिर जाने क्या सोच कर वो भाग खड़े हुए।

राजा जी के मकान के दस क़दम आगे ही उसके बाप का मकान था, जहां अब एक बड़ा सा पुख्ता आलीशान मकान उसका मुंह चिढ़ा रहा था। अचानक पुरानी यादों ने हमला किया। मसीते की आंखें भर आईं। उसने आंसू पोछ डाले— आगे बढ़ना चाहा मगर ठहर गया। अब कौन उसे पहचानेगा। पहचान भी गया तो क्या उसका कच्चा मकान उसे लौटा देगा ? बाप तो ग़रीबी में पहले ही मकान का पट्टा फड़वा आया था। अब क्या था उसके पास कहने के लिए या लड़ने के लिए।

वो पीछे पलटा। अचानक उसके कंधे पर किसी ने हाथ रखा। देखा तो मास्टर जी थे।

मास्टर जी मसीते की गीली आंखों को देख कर बरसों पुराने दर्द के तेवर को समझ गये। सिर्फ इतना पूछ सके।

''अब क्या इरादा है मसीते ?''

''इसी गांव में रहूंगा।''

''और काम ?''

''काम सोचूंगा। कुछ न कुछ तो...''

'अब गांव में या काम मिलेगा। यहां के सारे लोग तो शहर चले गए। जिनका व्यापार है। वो भी शहर ही में है। रहेगा कहां ?'

''कहीं भी।''

''स्कूल में ही सो जाना।''

मसीता कुछ दिन स्कूल में ही सोता रहा। उसने एक बार दबी ज़बान से अपने मकान के बारे में मास्टर जी से वापसी की बात कही। मास्टर जी ने किसी से उसका ज़िक्र कर दिया। बात बड़े बाबू तक पहुंच गई। रात के वक्त बड़े बाबू अपनी गाड़ी घड़घड़ाते हुए स्कूल के अहाते में पहुंच गए। मसीता सोया हुआ था। हॉर्न की आवाज़ सुन कर चौंका। उठ कर बैठ गया। बड़े साहब राजसी सूट में उसके सामने खड़े थे। ग़ौर से उसे देखा। हिक़ारत की निगाह फेंकी——— सवाल दागा।

''तुम मसीते हो ?''

''पहचाना नहीं ?'' उसने गुर्राई आवाज़ निकाली।

''सुना है हम जिस मकान में रहते हैं। उस पर अपना दख़ल लिखवाने आए हो।''

''हां,'' इस बार भी मसीते की आवाज़ में सांप की फुंकार शामिल थी।

''पागलपन छोड़ दो।''

बड़े साहब व्यंग्य में मुस्कुराए। उनके साथ उनकी पत्नी भी थी। सजी-संवरी। वो धीरे से बोली। ''चलो—— इन जैसों से क्या मुंह लगाना।''

''खों.... खों....'' मसीते ने इस बार फिर गुर्राई आवाज़ निकाली। बड़े साहब गाड़ी में बैठ गए। और माहौल में गाड़ी से उड़ी धूल बस गई।

मसीता का गुस्सा अब तक शांत नहीं हुआ था। आग की तेज़ लपटें अंदर भड़क उठी थीं। फिर वो अपनी जगह से उठा। और अंधेरे में बहुत दूर तक निकल गया। यहां एक छोटा सा नीम का पेड़ था। जगह जानी पहचानी सी थी और अचानक जैसे मसीता की आंखें भीग गईं। बदन लरज़ने लगा। नहीं, वो यहां ज़्यादा दिन नहीं ठहर सकता। सच तो ये था वो जिस दिन से आया था, उसी दिन से इस जगह की तलाश में था। लेकिन नए मकानात की पंक्ति में से जगह खो गई थी। इस जगह तो उसकी लाजो दफ़न हुई थी। वो बहुत देर तक मूर्ति बना आदर के साथ खड़ा रहा। क़दम कंपकंपा रहे थे... लड़खड़ाता हुआ वो झुका रहा। वहां की मिट्टी चूमी.... और फिर लंगड़ाता हुआ बोझल-बोझल मास्टर जी की पाठशाला लौट आया।

मसीता अब स्कूल में झाड़ू-पोछन लगाता और खान-पान मास्टर जी के साथ ही करता। एक हफ्ता तक इसी तरह चलता रहा। लेकिन मसीता को चैन नहीं था और इसीलिए मसीता के चेहरे पर हर वक्त एक खत्म न होने वाली झुंझलाहट बरसती रही। गांव में उसके लिए कहीं कोई काम नहीं था। और वो इतना गोलगप्पा और भद्देपन की हद तक मोटा था कि उस से कुछ होने वाला भी नहीं — लेकिन गांव के लड़कों में अब उसके लिए दिलचस्पी बढ़ गई। लड़के उसे घेरे रहते — वो उन से खूब बातें करता। इधर-उधर की बातें — लड़कों के ज़ेहन में वो सारी पुरानी कहानियां ज़िन्दा थीं। कभी-कभी वो इस कहानी को उधेड़ने की कोशिश करते तो मसीता में वो सिर्फ उस कहानी का अक्स ही देख सकते थे। जल्द ही मसीता को इस बात का एहसास हो गया कि वो इस तरह पाठशाला में झाड़ू पोछा लगा कर और मास्टर जी के साथ खान-पान कर के जी नहीं सकता, लेकिन अभी उसके सिवा दूसरा रास्ता भी क्या था।

लेकिन जल्दी ही वो सपने बेचने लगा। वो सपने जो उसने कभी देखे थे। महसूस किए थे और जो पूरे न हो सके थे। वही रंग-बिरंगे सपने। अब वो ये सपने अपने गांव के आवारा छोकरों को दिखाने लगा था जो किसी काम-धाम के नहीं थे। जो दिन भर गांव में धमा-चौकड़ी मचाते रहते। मसीता को अब उन के बीच सपने बांटते हुए मज़ा आने लगा था।

एक दिन उसने गांव के ही एक आवारा छोकरे रघुआ से कहा— ''क्यों रे... कुछ करता-धरता क्यों नहीं। तेरा बाप तो बूढ़ा हो गया और तू इकलौता लड़का है। इतने बड़े मकान का क्या होगा ? कभी सहर देखा है सहर। मकान बेच दे और सहर निकल जा। ससुरे सहर के लड़कियों की बराबरी तो ये गांव वालियां कर ही नहीं सकतीं।''

रघुआ दीदे फाड़े उसकी बातें सुनता। फिर जैसे शहर जाने के नाम पर हां कर दी।

उसने नत्थू के बेटे को हीरो बन जाने की बात कही ''तू तो गबरू जवान लगता है रे। बम्बई जाकर किस्मत आज़मा। यहां गांव में क्यों सड़ रहा है?''

लखिया की बेटी रूकमी एक दिन दौड़ते-दौड़ते उसके पास आई थी। उसका गांव ही के एक लड़के से रोमांस चल रहा था। मसीता ने दोनों को भाग जाने का मश्वरा दिया, कि यहां क्या है ? गांव में रहेगी तो शादी नहीं होने वाली।

फिर एक के बाद एक गांव में घटनाओं की झड़ी लग गई। लखिया की बेटी अपने प्रेमी के साथ भाग गई। नत्थू का बेटा घर से पैसे चुराकर बम्बई चला गया। रघुआ बाप से मकान जबरदस्ती अपने नाम लिखवा कर और बेच कर शहर चला गया। घटनाएँ कुछ इतनी तेज़ी से हुई कि मास्टर जी घबरा गए। अब इस मसीते का बड़ा शिकार बड़े साहब का बड़ा लड़का छंगा होने वाला था। मसीता ने उसे फांस लिया था। अब वो उसे पट्टी पढ़ा रहा था।

''गांव भी कोई रहने की जगह है। इतने पैसे हैं तुम लोगों के पास। सहर में तुम लोग ढंग की जगह क्यों नहीं देखते।''

छंगा को ये बात पसंद आई।

मसीता फिर कहता.... ''तुम्हारा बाप तुम्हारी ज़िन्दगी बरबाद कर देगा। तुम्हारे ये दिन तो ऐश के दिन हैं। गांव में रह कर क्या जानों कि ऐश क्या होता है। यहां का स्कूल भी कोई पढ़ने के लायक है। तू ऐसा कर कि अगर तेरा बाप तुझे पैसे नहीं देता तो तू तिजोरी की कुंजी की ताक में रह — फिर पैसे चुरा कर बम्बई भाग जा। अब देख ना वो नत्थू का छोरा जब हीरो बन कर आएगा तो तुझे अच्छा लगेगा ? और वो हीरो ज़रूर बनेगा। एक दिन जब उसे फिल्म के परदे पर देखेगा तब अक़्ल आएगी। अरे मैं कहता हूं तू किसी से कम है क्या.... ?''

बस यही बात छंगा के दिल को लग गई और सचमुच एक दिन वो तिजोरी से काफ़ी माल निकाल कर भाग गया बम्बई। उस दिन गांव में काफी वावेला मचा। बड़े साहब को ये ख़बर लग गई कि इस तरह का सपना गांव के आवारा छोकरों को मसीता ने दिखाया। वो तो पहले से खार खाए बैठे थे। इस बार बिगड़ते-चिंघाड़ते दो-चार लठैतों की फौज लेकर पहुंच गए।

''मार साले मसीता को।''

लेकिन अब मसीता पहले वाला मसीता तो था नहीं। जो हार जाए। वो लठैतों से इस तरह-भिड़ जैसे कोई पागल सांड से भिड़ता है। लठैतों के छक्के छूट गए। उन्होंने पुलिस बुलाने की धमकी दी। मास्टर जी ने बात संभाली। 'अब लड़का भाग गया तो क्या करोगे बड़े साहब ? दो-चार दिन उसे आवारा गर्दी कर लेने दो — जब दिन में तारे नज़र आएंगे तो खुद ही लौट आएगा।'

मसीता के दिल को जैसे ठंडक मिल गई। लेकिन मास्टर जी का पारा चढ़ा हुआ था। वो गुस्से में मसीता से निकल जाने को बोले।

''जा... निकल जा... गांव के भोले-भाले बच्चों को भड़काता है।''

मसीता धीरे से बोला। ''आप मुझे ग़लत समझने लगे।''

''फिर सही क्या है ?''

''सच-सच बताऊं मास्टर जी।''

मसीता ने तहबंद बराबर की और मास्टर जी की आंखों में देखा.... 'मुझे मकान चाहिए। अपना मकान। सच बताऊं तो मेरे जैसे आदमी को, जिसके पास कोई ठोर-ठिकाना नहीं, एक ठिकाने के लिए ही अब जी रहा है। जिस दिन से अपना मकान छिना, उस दिन से एक मकान होने की ज़िद हो गई। झोपड़ा ही हो, लेकिन अपना हो। गांव से भाग कर गया तो कुली का काम किया — ढाबे में रहा। स्टेशन पर सोता कभी मस्जिद में लेकिन — मकान नहीं हो पाया। जिस दिन मकान का पट्टा फड़वा कर अब्बा को मकान से बेदख़ल होते देखा था बस उसी दिन से...'

मसीता उनकी तरफ़ देख रहा था। मास्टर जी सन्न से रह गए। क्या कहते। बचपन तो निकल गया मसीता। जवानी भी निकल गई। अब ये अधेड़पन बचा है और बचा है तेरा बाक़ी सपना। इस बाक़ी सपने को बदन की ढाई इमारत में कब तक महफूज़ रखेगा। जा कोई और सपना पाल, कोई दूसरा ठौर-ठिकाना ढूंढ।''

''अब कौन सा ठौर-ठिकाना मास्टर जी। जब इंसान हार जाता है तो आख़िर में उसके पास गुज़रा हुआ ज़माना ही होता है। उस गुज़रे हुए ज़माने में वो अपना घर देखता है। अब कितनी उम्र बची है मेरी। लेकिन लगता है वही पुराना सपना।''

उसके होंठों पर मुस्कुराहट उभरी— — तुम शायद हंसो मास्टर जी। लेकिन वही पुराना सपना। लाजो दौड़ती हुई पंघट गई है और मैं पीछे-पीछे भाग रहा हूँ''

''इतनी बातें कहां से सीखीं मसीते ?''

''सब तजुर्बे सिखाता है मास्टर जी। सहर में इतने दिनों तक रहा। बातें खूब सीखीं लेकिन नहीं सीखा तो जीना।''

''क्यों ?''

''इसलिए कि हम सपने देख तो सकते हैं, सपने रख नहीं सकते।'' वो मुस्कुराया।

'जिस वक्त गांव से भागा था उसके बाद काफी दिनों तक शहर की एक मस्जिद में मौलवी साहब के साथ रहा।

बड़े अच्छे आदमी थे। जो भी खाने पीने की चीज़ आती, मुझे भी खिलाते।

और एक से एक बातें बताते। सपनों का सच भी उन्हीं से सीखा। जो सपने हम देखते हैं वो तो आप कुचल देते हैं। फिर जीना सीखूं भी तो कैसे ? उसी मौलवी ने बताया था कि सब से सस्ती चीज़ तो सपना है, जिसे हम आसानी से देख सकते हैं। लेकिन हम ग़रीब सपना भी तो नहीं देख सकते। लेकिन अब सोच लिया है मास्टर जी फक्कड़ हूं तो क्या सपने देखूंगा भी और दिखाऊंगा भी।

मास्टर जी हंसे — ''मैं भी तो जानूं तेरा सपना क्या है ?''

''सुनेंगे।'' मसीता ठठा कर हंसा ''जैसे ये है कि बुल्डोज़र चला कर बड़े साहब का मकान ढा दूं और वहां दोबारा बाबूजी वाला कच्चा मकान खड़ा कर दूं। जैसे ये कि लाजो की कब्र खोदूं और वो जीती जागती निकल आवे।''

''पागल।'' मास्टर जी ठहाका मार कर हंसे। मकान और लाजो दो ही का ज़िक्र है तेरे पास — ऐसा कर स्कूल के बाहर अपनी एक झोंपड़ी खड़ी कर ही ले, और किसी लाजो को ले आ।''

''नहीं मास्टर जी।'' मसीता की आवाज़ भर्रा गई। झोंपड़ी तो बनाऊंगा लेकिन किसी को ब्याह कर नहीं लाऊंगा।''

झोपड़ी की बात शायद मसीते के दिल में उतर गई थी। उसके दूसरे दिन लोगों ने देखा, मसीता बड़ी उमंग से अपनी छोटी सी झोपड़ी तैयार करने में लगा है। पाठशाला से वो कुदाल ले आया था। पेड़ काटना। सींकचे निकालना, ज़मीन खोदना, डंडों का फाहा बनाना, लकड़ी के भारी कुंदों को गाड़ना। जिसने देखा उसे हैरत हुई। मसीते के चेहरे पर ऐसा जोश इस से पहले कभी देखा भी नहीं गया था। इंसान के जब किसी सब से बड़े सपने की 'ताबीर' मिलती है तो जैसी आभा उस वक्त उसके चेहरे पर हो सकती है, मसीता के चेहरे पर वैसी ही 'तसल्ली' थी। सुबह से शाम तक वह अपनी झोंपड़ी खड़ी करने में लगा रहा। भरपूर मेहनत। यहां तक कि वो पसीने से शराबोर हो गया। इतना कुछ करने के बाद भी काम बच ही गया था। जो उसने दूसरे दिन पूरा किया। झोपड़ी की सजावट में उसने मोची के चप्पलों से उतारे हुए चमड़े के खाली डिज़ाइन का भी सहारा लिया। गांव के लोगों के लिए ये सब अनोखा सा था। लड़कों में भी ये मंज़र देख कर जोश बढ़ गया। मसीता काम में लगा रहा और लड़के गाते रहे।

''देख कितनी तेज़ है इसकी रे खोपड़ी

डेढ़ दिन में बन गई मसीता की झोंपड़ी''

मसीता उनका गाना सुनता फिर शान से मुस्कुराता — गर्व से खुद तामीर की गई झोंपड़ी को देखता। उसे लगता जैसे उसके सपने में जान पड़ गई है। और उसकी कई वर्षों की प्यास तृप्त हुई है।

लेकिन इसके आठ-दस दिन बाद ही गांव में एक नया मामला उठ खड़ा हुआ। जब बड़े साहब को छंगा का ख़त मिला। जिसमें छंगा ने मां और बाबू जी को अन्तिम प्रणाम लिखते हुए लिखा था कि अब उसका पैसा ख़त्म हो रहा है। वो बम्बई में अब ज़्यादा नहीं रह सकता। यहां की ज़िन्दगी बहुत मुश्किल है। इसलिए वो आत्महत्या करने जा रहा है। इस ख़त को उसका अन्तिम प्रणाम समझा जाए।''

घर भर में रोना-पीटना मच गया। गांव में तुरंत ख़बर फैल गई। बड़े साहब ने गुस्से में दोनाली बंदूक खींच ली। लोगों ने बीच-बचाव किया। उधर मास्टर जी ने हवा का रूख भांपते हुए मसीता को पाठशाला में छुपा दिया।

''छुप जा मसीते छुप जा — वर्ना तेरी ख़ैर नहीं।''

''क्यों ? मसीता अड़ गया।''

''बड़े साहब पागल हो रहे हैं।''

''हों, मेरी बला से।''

''गांव के सारे लोग बिगड़े हुए हैं।''

''बिगड़े मेरी बला से।''

मास्टर जी गुस्सा हुए। ''जब उनकी बला तुझ पर टूटेगी तब मालूम होगा। पहले छुप जा।''

मसीता बार-बार यही कहता रहा— ''वाह — वाह क्यों छुपूं। कोई मैंने मारा है। कमाल है, क्यों छिपूं ? वो भागा है तो अपनी मर्जी से।''

बड़े साहब के तेज़ गरजने की आवाज़ आई। मास्टर जी ने साफ इंकार कर दिया कि उन्होंने मसीता को देखा ही नहीं। बड़े साहब ने गुस्से में उसके ढाई गज़ के झोपड़े को उजाड़ दिया। गांव में एक मजमा सा लगाया था... बड़े साहब दूसरे दिन शाम की गाड़ी से किशोर की खोज में बम्बई जाने वाले थे। लोग उन्हें समझा बुझा कर घर ले गए।

काफी देर हो गई तो मसीता पाठशाला से बाहर निकला। बदन कड़कड़ाया, शाम की परछाइयां तक गांव के आसमान पर तैर चुकी थीं। बिना डर वो बाहर निकला। लंगड़ाता। वही कुर्ता और तहबन्द पहने। और अचानक उसकी आंखें फटी की फटी रह गईं। उसका झोपड़ा बड़े साहब के ग़ज़ब की कहानी सुना रहा था। मसीता को लगा जैसे किसी ने उसका दिल निकाल लिया हो। अचानक पाठशाला के गेट से वह घिघियाई सी आवाज़ निकालता अपने झोंपड़े के पास वापस भागा। और फिर दहाड़ें मार कर रोता हुआ लकड़ी के सींकचों और डंडों को लिपटा-लिपटा कर चिल्लाने लगा। उसकी चिल्लाहट और गला फाड़-फाड़ कर रोने की आवाज़ सुन कर फिर भीड़ लग गई।

मसीता जैसे पागल हो रहा था— जैसे किसी ने सचमुच उसके महल में आग लगा दी हो। वो भीड़ लगाए लोगों को नफ़रतो-हिक़ारत से और खा जाने वाली नज़रों से देख रहा था। जैसे ये सब मुजरिम हों। मुश्किल से जी को कड़ा कर के मास्टर जी ने उसे खींचना चाहा।

''मसीते होश में आ।''

मसीता जैसे पागल हो रहा था। उसने मास्टर जी को तेज़ धक्का दिया और भीड़ की तरफ़ हाथों में पकड़ा हुआ डण्डा उछाल दिया। भीड़ छटी। लोग गुस्से में इधर-उधर हट गये। और मसीता घड़घड़ाई आवाज़ निकाल कर डंडा लेकर भीड़ पर दौड़ पड़ा।

मास्टर जी चिल्लाए,

''ठहर मसीते।''

मगर मसीते को आज होश कहां था...

वो तो जैसे पागल हो रहा था। मास्टर जी ने हिम्मत की। दौड़ लगाई। मसीते को जा पकड़ा। मसीता इस बार नर्म पड़ा। किसी छोटे बच्चे की तरह या गूंगे की तरह उसने फिर घिघियाई आवाज़ निकाली। झोपड़ा दिखाया और इशारा किया कि उसका सपना चूर-चूर हो गया। मास्टर जी ने उसे समझाया — दिलासा देना चाहा, खींच कर पाठशाला में लाए। मगर काहे को... वो पत्थर का बुत बन गया था। रह-रह कर कांपने लगता। काफ़ी देर तक वो सकते के आलम में रहा। फिर अचानक उठा। क़दम बाहर की तरफ़ खींचे। मास्टर जी चिल्लाए, ''कहां चले ?''

मगर मसीते ने कोई ध्यान नहीं दिया। जैसे इंसान अचानक कोई मज़बूती भरा फैसला कर लेता है फिर सोचता नहीं। यही मसीते ने किया। उसने कदम बाहर निकाला। फिर पलट कर गांव की सूरत नहीं देखी।

उस रात सिर्फ इतनी सी बात हुई कि रात में, अंधेरे में किसी वक्त मसीता बड़े साहब के घर पहुंच गया। उसके हाथों में डंडे का वही भारी कुन्दा था। बड़े साहब आधी रात को किसी काम से बाहर निकले थे। मसीता उन्हीं की ताक में छुपा बैठा था। बड़े साहब जैसे ही निकले। मसीता ने ताबड़-तोड़ डण्डे का वार उनके सर पर किया और उनकी आखिरी चीख निकलने तक मसीता वहां से भाग चुका था।

दिन होते ही पुलिस आई। मसीता की खोज हुई, लेकिन मसीता नहीं मिला और उस दिन के बाद कभी गांव या बाहर देखा भी नहीं गया।

फिर कितने ही बरस हवा में फड़फड़ा कर उड़ गये। मसीता की इतनी कहानी तो मैं जान रहा था। इसलिए इच्छा थी कि ज़िन्दगी के इस बिखरे लम्बे सफ़र में इस कहानी के आखिरी सिरे की तलाश कर सकूं कि मसीता को घर मिला या नहीं ? जीने को सपना और सपने को घर का मक़सद मानने वाले मसीते की ज़िन्दगी में एक झोपड़े की हसरत पूरी हुई या नहीं.... आज इतने दिनों बाद मुझे इस झोपड़े के सामने मसीता की मौजूदगी हैरत में डाल रही है और मैं उस बूढ़े को देखे जा रहा हूं जिसके होठों पर सिकन्दर आज़म की तरह विजयी मुस्कुराहट खेल रही है.... ''तुम मसीता हो ?''

मसीते ने अजीब घड़घड़ाहट वाली आवाज़ निकाल कर मेरी तरफ देखा है — वो जैसे खुश हो रहा है कि मैं इसे जानता हूं। कितना खुश हो रहा है। अचानक एक झटके से उसने मेरा हाथ थामा। हाथ अब भी इतना मज़बूत था कि मेरा हाथ झनझना उठा — फिर उसने अपनी झोपड़ी की तरफ इशारा किया और फिर अपना दायां हाथ अपने सीने पर रख कर बताया कि मेरा है। मैंने फिर ग़ौर से अपनी कहानी के उस हीरो को देखा, जिसकी आंखों की बुझती जोत में उस झोपड़ी को दिखाकर हज़ारों कुमकुमे जल उठे थे।

फिर अचानक उसने झोपड़ी के अन्दर कुछ देखने के लिए इशारा किया। मैंने अन्दर झांका तो सन्न रह गया। जहां वो इशारा कर रहा था। वहां मैले कपड़े में जो कभी सफेद रहा होगा। इस तरह मोड़कर और अन्दर कुछ भर कर रखा था, जैसे किसी आदमी का कफ़न पहनाया जाता है। उसने फिर मेरी तरफ देखा। जैसे कुछ पूछ रहा हो कि मैंने कुछ समझा या नहीं। फिर उसकी घड़घड़ाती आवाज़ मैंने सुनी।

'ला... जो...'

मेरा पूरा अस्तित्व झनझना उठा। फिर मैंने देखा कि 80 साल का वो बूढ़ा झोपड़ी के अन्दर गया। उस 'कफ़न' को सीने से लपटाया। शायद वो रो रहा था।

अचानक उस पल ऐसा लगा, जैसे धूप को बादल के 'ठंडे' टुकड़ों ने चारों ओर से घेर लिया हो। और उस टुकड़े ने धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए झोपड़ी को अपने साये में ले लिया। ◆

संपर्क —
डी-304, ताज एन्क्लेव,
लिंक रोड, गीता कालोनी,
दिल्ली-110031

जया जादवानी

मध्य प्रदेश के कोतमा नामक स्थान पर 1 मई, 1959 को जया जादवानी का जन्म हुआ।

हिन्दी और मनोविज्ञान में एम.ए.। अपने पहले ही उपन्यास 'तत्त्वमसि' से हिन्दी जगत में अपनी सार्थक उपस्थिति का एहसास कराने वाली इस लेखिका ने दर्ज़नों खूबसूरत कहानियां लिखी हैं। 'मैं शब्द हूं', 'अनंत संभावनाओं के बीच' कविता-संग्रह। 'मुझे ही होना है बार-बार' पहला कहानी-संग्रह।

संपर्क –
कस्तूरबा नगर, जरहा भाटा,
बिलासपुर–495001

एण्टी पॉर्टिकल

आज मैं आपको कोई कहानी नहीं सुनाने जा रही, जैसे कि आम तौर पर लोग करते हैं....। आप जाते हैं उनके घर एक कटोरी शक्कर लेने या एक कप स्पेशल चाय पीने तो वे आपको पकड़कर कहानी ही सुनाने लगते हैं। ऐसा मैंने कभी नहीं किया। बल्कि जब-जब आप आये है मेरे घर पर मुझसे कुछ कहने — शायद अपना दुःख अपनी नापसंदगी— अपनी कोई अधूरी अदम्य इच्छा.... या टूटकर बिखर चुके अभिमान की व्यथा.... या जब आपका मन खूब जोर से हँसने या रोने का कर रहा हो....। आप मेरा दरवाजा खटखटाते हैं और अंदर आ जाते हैं....। हर घर में कुछ तन्हा कोने होते हैं जिन्हें आदमी बनाता ही अपने रुदन के लिये है.... पर कभी-कभी घर के अन्य सदस्य जो कहीं भी रो लेते हैं या जिन्हें कोनों की ज़रूरत नहीं पड़ती.... दूसरों के बनाये कोनों में अपना सामान रख लेते हैं....। तब आदमी दूसरे के घरों की तरफ भागता है.... उनके कोनों में उनके साथ बैठ कर रोने के लिये.....

आइये, मैं आपका स्वागत करती हूं.... ये मेरा नितांत निजी कोना है.... यहां मैं अकेली बैठ कर रोती हूं या शायद जिसे आप रोना भी नहीं कह सकते। रुदन एक अभाव से हो रही तकलीफ का नाम है। कई बार यह तकलीफ अपने भीतर से जन्मती है, कई बार इसे बाहर से लाना पड़ता है। आप कहेंगे क्यों ? कभी आपने औरतों को खाली दुपट्टे पर सलमें सितारे, गोटे किनारी लगाते देखा है ? इसके बाद वे सुंदर लगते हैं। वे औरतें सुन्दर लगती है जिन्होंने उन्हें ओढ़ा होता है। तकलीफों के साथ भी कुछ ऐसा ही है उन्हें जरा सा सुंदर बनाना पड़ता है.... अपने

हर घर में कुछ तन्हा कोने होते हैं जिन्हें आदमी बनाता ही अपने रुदन के लिये.... पर कभी-कभी घर के अन्य सदस्य जो कहीं भी रो लेते हैं या जिन्हें कोनों की ज़रूरत नहीं पड़ती.... दूसरों के बनाये कोनों में अपना सामान रख लेते हैं....।

आंसुओं, एहसासों के मोती टांक-टांक कर....

आप आराम से बैठिये, संकोच करने की ज़रूरत नहीं है। क्या कहा ? ये सब कहां गये हैं ? अरे जनाब, वे सब मुझे ढूंढने गये हैं। मुझे..... मुझसे बाहर...। अब वे ऐसा न करे तो क्या करें ? आदमी आदमी को हमेशा गलत जगहों पर ढूंढता है.... भ्रम बना रहता है कभी मिल जायेगा मिलता नहीं। पर सोचिये, सही जगह ढूंढा और हम मिल गये तो आप करियेगा क्या? फिर अलग होने की तैयारी ?

बहुत बरस पहले मैं उसे ऐसे ही ढूंढा करती थी.... फोन कर कर के.... दोस्तों से पूछ-पूछ कर.... तमाम दिन शहर की गलियों और रात को ख्वाबों में भटकती...। पर जिस दिन मुझे पता होता था आज वह घर पर है मैं कभी नहीं जाती थी। वह है, वह रहे, हमेशा.... चाहे मैं उससे कभी न मिलूं।

अरे यह क्या मैंने भी अपनी कहानी शुरू कर दी आज तो तय है कि मैं नहीं आप कहेंगे तो इधर आइये सबसे पहले मैं आपको शब्दों का तकिया दे देती हूं, इस पर सिर रखो और पहले रो लो, हल्के हो जाओ। ये नहीं कि ऐसे तकिये सिर्फ मेरे पास है — बाज़ार में खुलेआम मिलते हैं.... पर बाज़ार के बने तकियों और मेरे तकियों में काफी फर्क है.... बाज़ार में जिस तरह के शब्दों को भरा जाता है, वह शब्दों की भूसी है.... निःसत्व....। वे जो चलन में ज्यादा होते हैं.... पर जिनका अर्थ नहीं होता कुछ....। रोजमर्रा के जीवन में देखा होगा आपने, ऐसे शब्दों को, जो पैदा होते ही मरने लगते हैं....। बहुत छोटी उम्र होती है उनकी। मैं अपने तकिये शब्दों को चुनकर बनाती हूं। किसी जौहरी को देखा है— हीरे के बड़े से ढेर के सामने अपनी चिमटी पकड़कर बैठे....। वह एहतियात से छांट-छांट कर अपने काम के हीरे अलग करता है, उसकी तराश देखता है, गठन कीमत — यह भी कि किस गहने के लिए, कितने कौन से मौजू हैं। बाकी छोड़ देता है किसी अगले वक्त के लिये। नहीं वक्तों के लिये। आप कहेंगे,

> एक नदी का पानी भी कितनी नदियों के पानी से मिलकर बना है, कौन कमबख्त जानता है ? उसी तरह आंखों से झरते नमकीन आंसुओं में किस-किस दुख का नमक है... यह तो खुद रोने वाला भी नहीं बता सकता।

यह सिंगुलर है, प्लूरल नहीं। आप ठीक कहते है— पर जिस तरह सुपर माइंड एक है, माइंड अनेक— उसी तरह वक्त भी एक है — शाश्वत वक्त। उसमें हम सबके 'वक्त' अलग-अलग और बहुत सारे है...। हम 'वक्तों' में जीते-मरते हैं 'वक्त में नहीं....।' जिस दिन 'वक्त' में जीना आ गया, उस दिन मरेंगें क्यों ?

तो मैं आपको तकियों का फर्क बता रही थी। मैं बिल्कुल उस जौहरी की तरह शब्द छांटकर तकिये बनाती हूं— बड़े ही नर्म-नाजुक। मेरी अहसासों में डूबी उंगलियां उन्हें छूती हैं तो वे अहसास भी उनके भीतर उतर जाते हैं और जनाब, जौहरी की तरह मैं उन्हें चिमटे से नहीं पकड़ती.... न ये हीरों की तरह बेजान है। वैसे तो एक अर्थ में हीरे भी बेजान नहीं हैं — ये बोलते तब हैं, जब आपके जिस्म के किसी हिस्से में सज जायें। शब्दों को पकड़ते, इन्हें तकिये में भरते, उनका रंग और महक मेरी उंगलियों से लिपट जाते हैं.... उंगली से होते हुए सारे शरीर में उतर जाते हैं....। मैं मजाक नहीं कर रही। आप मुझे सुबह की धूप में, दुपहर और फिर शाम की ढलती रोशनी में या छांव में या बारिश में ध्यान से देखिए.... हजारों इंद्रधनुषीय रंग मुझ में झिलमिलाते नजर आएंगे...। नहीं-नहीं, यह मेरी कारीगरी नहीं, न 'उसकी' रहमत है। ये शब्दों केअपने रंग हैं.... मैं तो पारदर्शी कांच हूं सिर्फ....। अपने खूब सारे पैरों से भीतर उतरकर ये फिर उस खाली जगह में घूमते हैं....। जितनी खाली जगहें उन्हें मनुष्य के भीतर मिलती हैं, उतनी बाहर नहीं। बाहर तो बस ये भटकते हैं.... प्रेतात्माओं से.... अनदिखते नाजुक अहसासों से सराबोर....। आपने सोचा नहीं कि चट से गिरा आपकी खाली खोपड़ी में....। फिर उसे एक खास वक्त के लिये मैं अपने अंदर पलने-पुसने को छोड़ देती

हूं.... भीतर शब्दों की अंत:क्रिया होती है.... अंडे होते हैं, फिर बच्चे...। वह सब मैं आपको किसी और वक्त बताऊंगी.... अभी तो तकिया ही पूरा नहीं हुआ... तो इस तरह मैं शब्दों का तकिया बनाती हूँ कि जब आप आएँ.... अपनी पसंद का छांट उसके निकट बैठ जाएं...। उसके अर्थों की गर्मी आपके भीतर जमा हुआ दु:ख पिघला देगी और आप काफी निर्भार महसूस करेंगे। मनुष्य के साथ एक हास्यप्रद बात यह है कि अपना कचरा वह खुद इकट्ठा करता है और खुद चिल्लाता है कि आओ, मुझे मुक्त करो। इस वक्त आप कहिये... कहिये क्योंकि संवाद हमारी आत्मा की जरूरत है। हम देते हैं खुद को, उस दूसरे को अपने शब्द और अपने स्पर्श से और इसी देने की प्रक्रिया में उसे पाते भी हैं.... न सिर्फ उसे, खुद को भी....।

सबसे बड़ा सुख पता है, क्या है कि कोई आपको सुन रहा है। उसी-तल्लीनता से, जिससे आप कह रहे हैं। शब्द हमारी प्रत्येक भावना का साक्षी है, हमारे होने का भी। उसी तरह मिलिये इनसे, नदियों का पानी मिलता है, जैसे....। एक नदी का पानी भी कितनी नदियों के पानी से मिलकर बना है, कौन कमबख्त जानता है ? उसी तरह आंखों से झरते नमकीन आंसुओं में किस-किस दु:ख का नमक है... यह तो खुद रोने वाला भी नहीं बता सकता। बस समझिये, सब एक है.... आंसू हैं कि पानी है कि बर्फ है... मनुष्य है कि प्रकृति है। तो इस एकात्मकता के बाद ही आप अपने से सुर्खरू हो सकते हैं। मैं आपके सामने थोड़े ही बैठी रहूंगी.... मैं तो आपको वहीं अपने ड्राइंग रूम में छोड़ खुद दीवार में लटके फ्रेम में चली जाऊंगी।

जी हां, आपने ठीक समझा। मैं तो बस कभी-कभी ही आ पाती हूं बाहर...। जब सामने समाज न हो, घर न हो, रिश्ते न हों... मनुष्य हो सिर्फ.... क्षुद्र मनुष्य.... आवरणहीन....। उस मनुष्य को सुनना...। किसी दिन धूप नहीं निकलती या चांदनी नहीं बहती तो भी वह बहता ही रहता है... या जैसे फल पकते हैं... आपको पता है, फल पकने की तरह मनुष्य होना भी एक प्रक्रिया है — इस प्रक्रिया से हम स्वयं को बाधित करते हैं — प्रकृति की टहनी से खुद को तोड़ लेते हैं समय से पहले और सड़ने लगते हैं। फल हों या मनुष्य, इनका 'होना' दूसरे में इनकी विलीनता से ही संभव है। जो खुद को निरंतर बचाए रखना चाहते हैं... वे स्वयं अपनी मृत्यु का कारण बनते हैं।

अब जरा फ्रेम को ध्यान से देखियेगा.... यहां एक घर है.... काफी बड़ा— ऊपर आसमान है, बादल है, बारिशें हैं....। यह जो कुछ भी है, उसे छोड़े रखने के लिए मनुष्य ने घर बनाये हैं....। बाहर एक बगीचा है, कतार में लगे वृक्ष हैं....। वृक्षों की झुकी शाखायें बता रही हैं कि हवा चल रही होगी....। आधे खिले फूल अपनी खिलने की प्रक्रिया के बीच ठहर गये हैं। हवा जरा सी तेज हुई नहीं कि इन फूलों और पतों को उड़ाती दूर ले जायेगी। अरे, हवा तो चलने लगी....। नहीं-नहीं आप उन फूलों के पीछे मत भागिये.... कोई फायदा नहीं। आप उन लोगों में से तो नहीं जो सूखे फूल और सूखी तितलियां किताबों में टांक कर रखते हैं। कोई जरूरत नहीं जनाब, शब्द तो वहां पहले से ही हैं..... फूलों और तितलियों की तरह....।

आप मेरे साथ आइए.... आइए इस घर में चुपके से प्रवेश करते हैं। कितना साफ-सुथरा है घर, मानों अभी-अभी किसी ने चमकाया हो। घरों को चमकाने वालों की हालत देखी है आपने, देखियेगा कभी.... कितनी कीमत चुकाते हैं वे इसकी और आपको पता तक नहीं चलता। अब इधर देखिये हर चीज करीने से लगी अपनी जगह पर.... पहचान रहे हैं इन चीजों को.... कौन लाया है इन्हें ? कैसे इन्होंने मनुष्य के बीच इतनी जगह बना ली कि इनके लिए जगह बनाते-बनाते मनुष्य स्वयं हाशिये पर चला गया है। हद तो यह है कि वह स्वयं को भी इन चीजों से ही पहचानने लगा है। इस घर में आपको क्या दिख रहा है ? चीजें या मनुष्य ? और जहां से आप आये है... वहां ? चलिये, रहने दीजिये....

इन कमरों से चलते हुए बाहर आइये.... वहां रुकने का मन हो तो भी रुकियेगा नहीं...। कोई फायदा नहीं। उधर देखिये, उस नल से अभी भी पानी बह रहा है.... बगल में साफ-सुथरे कपड़ों का ढेर है....। यहीं पर लहू धोया जाता है, यहीं आंसू...। लहू, आंसू और मैल, रहते चाहे अलग-अलग हैं पर मनुष्य के भीतर ये सब एक ही जगह जाकर मिलते हैं, हम इनकी कीमतें अलग-अलग क्यूं न आंकते हों। इधर आइये... आयी खुशबू कहीं से ? वो गैस पर कुछ पक रहा है....। कुछ नहीं.... बहुत कुछ.... एक पूरा जीवन.... एक पूरा भविष्य....। इसकी पूरी प्रक्रिया आप देख भी न पायेंगें कि यह पक कर सड़ भी जायेगा....। इस किचन को देखिये.... गैस के पास खाली जगह है न, यह हमेशा खाली रहती है... ब्लैक होल है यह। जो भी जाता है इसमें, फिर वापस नहीं आता...। आप समझते हैं मैं मजाक कर रही हूं, नहीं जनाब, आपका मेरा कोई मजाक का रिश्ता है ? ध्यान से सुनिये.... इन ईंटों के जोड़ों से लगातार किसी के गाने की आवाज आ रही है... भारी, बोझिल, घिसटती हुई सी... जनाब, यह गीत नहीं... इन ईंटों और गारे से किसी की सिसकियों की आवाज आ रही है... जिसे आप हमेशा गीत समझते आये हैं। अगर आपको कुछ सुनायी नहीं दे रहा, तो भी कोई बात नहीं... दरअसल आप भीड़ से उठकर आ रहे हैं जहां सिर्फ शोर होता है। भीतर से निकली ध्वनियां धीमी सुनायी देती हैं.... और जब आप नहीं सुन रहे होते, तब भी वास्तव में आप सुन रहे होते हैं। आप कभी-कभी चौंक पड़े होंगे.... कभी राह चलते हुए, कभी नींद में, कभी कुछ लिखते हुए, कभी प्रेम करते हुए...। आप किसी का हाथ पकड़कर बैठे हैं और सोच रहे हैं.... ये लम्हा आप पहली बार नहीं जी रहे, इसके पहले - कब - कहां, आपको

याद नहीं आता ? दरअसल हम जी चुके हैं — सारे दुःख, सारे सुख....। अलग-अलग परिस्थितियों, अलग-अलग रास्तों पर एक बार और जीते हुए भी वही पुरानी अनुगूंज बनी रहती है भीतर...। तो आपको वह आवाज नहीं सुनायी दे रही तो समझें आप एकदम ठीक जगह पर नहीं खड़े हैं...। ठीक जगह पर खड़े रहना, यह एक हुनर है जनाब, जो आसानी से नहीं आता और जब आता है.... आता कहां है जनाब.... मनुष्य की कहानी ही गलत जगह पर खड़े होने की कहानी है। गलत समय पर खड़े होने की कहानी।

आइये अब इस दूर और तन्हा कमरे में — यहां कोई नहीं आता— कुछ दिखा.... एक कांच के बक्स में लेटी हुई वह औरत... सदियों से इसी तरह है.... श्रोडिंगर की बिल्ली की तरह....। वह न जीती है, न मरती है... सस्पेंडेड है...। जिस दिन देख ली जायेंगी... या तो जी जायेंगी.... या मर जायेंगी। नियति है यह मनुष्य की — संस्पेंडेड रहना...। जीना सुख की बात है- मरना भी - पर सस्पेंडेड रहना...। मेरा मतलब समझ रहे हैं न आप ?

तो आप जा रहे ? आप को लगता होगा न न करके मैंने भी आपको एक कहानी सुना दी। नहीं जनाब ये कहानी तो आपके भीतर थी। आप ही अपने कंधे पर रख मेरे खाली फ्रेम में चले आए थे। मैंने तो जब आपको थका हुआ देखा अपना कंधा आगे कर दिया। क्षण भर से मेरे कंधे पर रखिये.... थोड़ा सुस्तारू होइये.... फिर रखवा दूंगी दूसरे कँधे पर। जनाब, दो ही तो कंधे है हमारे.... थक जाते हैं.... तीसरे को ढूंढने लगते हैं।

तो अब आप लीजिये वापस अपनी गठरी... बाहर जाते-जाते दरवाज़ा बंद करते जाइयेगा.... वो जो सदियों से सो रही है कांच के बंद बक्से के भीतर... और जिसे अभी भी अपने देखे जाने की प्रतीक्षा है... किसके देखे जाने की ? वह कौन है, जिसके देख लिये जाने के बाद या तो वह जी जायेगी या मर जायेगी। हर व्यक्ति की चाह होती है और तब तक उसकी यात्रा चलती रहती है, जब तक उसे उसका एक ऐसा एन्टी पार्टीकल न मिले, जहां वह अपनी अस्मिता खो दे। उसके मिलते ही उसकी यात्रा संपूर्ण हो जाती है। तो अभी उसे यूं ही रहने दे उसी प्रतीक्षा में....।

और ये शब्दों का तकिया भी मुझे वापस करते जाइये..., अगली बार आयेंगे तब तक मैं कुछ और बना के रखूंगी.... क्या कहा ? मैं यह सब क्यूं कर रही हूं ? हर बात का कोई कारण ही हो ये कहां जरूरी है ? बेवजह जैसे हवा चलती है, पंछी बोलते हैं, पहाड़ सरकते हुए एक दूसरे के निकट आ जाते हैं या बादल झुककर उन्हें चूमते हैं.... सब अकारण है। कारण सिर्फ मनुष्य बनाता है। तो आप यह न पूछे और अगर यह आपकी जिद है और मुझे कोई न कोई जवाब देना ही है तो कहूंगी कारण वही.... आपके आने का जो है.... मेरे कहने का भी.... एक ऐसे एन्टी पार्टीकल की तलाश... जिससे हाथ मिलाते ही मैं नष्ट हो जाऊं....। ◆

संपर्क —
कस्तूरबा नगर, जरहा भाटा,
बिलासपुर—495001

हरि भटनागर

एक नहीं, तीन-तीन पत्रिकाओं के सम्पादन से सम्बद्ध। चर्चित कथाकार। मार्मिक कहानियों के लिए हमेशा चर्चा के केन्द्र में। 'सेवड़ी रोटियां' प्रशंसित कहानी-संग्रह। कई कहानियों का नाट्य रूपान्तरण।

आकाशवाणी की दुनिया में जाना-पहचाना नाम। प्रस्तुत कहानी 'माई' लेखक की सद्य:लिखित कहानियों में से एक है। इस कहानी का ट्रीटमेण्ट अद्‌भुत है। संप्रति 'साक्षात्कार' पत्रिका से सम्बद्ध।

संपर्क -
197, सेक्टर-बी, सर्वधर्म कालोनी,
कोलार रोड, भोपाल-16

माई

यह कहानी पाँचोपीरन गाँव के एक महरा की है। पता नहीं क्यों पाँचोपीरन गाँव का नाम जबान पर आते ही महरा की याद हो आती है।

महरा यही कोई चार फुट का निहायत ही काला, उस पर चेचक का मारा था। चेचक ने उसकी एक आँख छीन ली थी, दूसरी आँख थी लेकिन ऐसी दिखती जैसे गंदुमी काँच जमा दिया गया हो। नाक चपटी थी और भौंह और बरौनियाँ गायब थीं। सिर पर वह हमेशा गमछा बाँधे रखता।

जैसा कि कहा गया है कि वह महरा है, पेट के लिए वह बस स्टैण्ड की दुकानों में पानी भरता है। सुबह से शाम तक वह, काँधे पर बहँगी टाँगे, पानी के कनस्तरों को हाथों से सम्हालता, 'बच के बाबू' की हाँक लगाता, नंगे पाँव बगटुए कुएँ से दूकानों के बीच, सरकता दीखता। बहँगी लचकती तो उसका शरीर आबनूस के लट्ठे-सा, पसीने से चमकता, उस लचक की लय के साथ ताल भिड़ाता। बिना बाँह की बनियान वह पहनता जिसे बत्ती की मानिंद तहा के छाती पर चढ़ा लेता। चारखाने की ढीली-ढाली जाँघिया उसके घुटनों तक होती, लगता बरमुडा पहने हो।

प्रकृति में बदलाव सहज संभव है, लेकिन महरा के काम में कभी कोई बदलाव नहीं देखा गया। कैसी भी ठण्ड, तपिश और बारिश हो, वह कभी पीछे नहीं हटा। अपनी धज से उसने प्रकृति को हमेशा चुनौती दी।

लेकिन यही महरा आज उदास है और अपनी झोपड़ी में ग़मगीन पड़ा, कोई काम नहीं कर रहा है। सिसकता है, रोता है।

सुबह से शाम तक वह, काँधे पर बहँगी टाँगे, पानी के कनस्तरों को हाथों से सम्हालता, 'बच के बाबू' की हाँक लगाता, नंगे पाँव बगटुए कुएँ से दुकानों के बीच, सरकता दीखता।

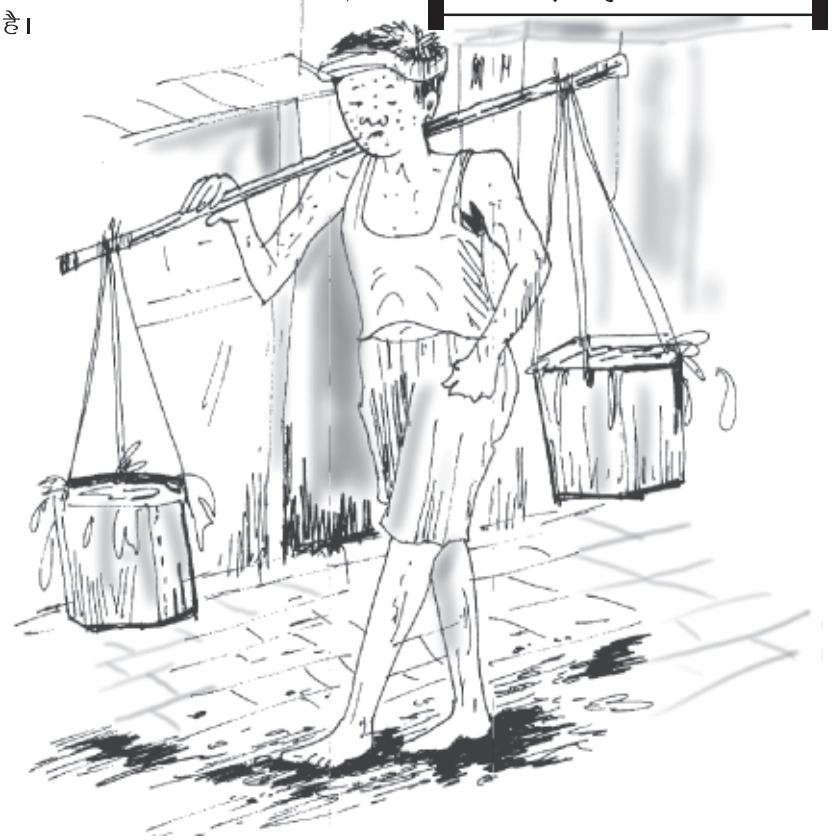

महरा की उदासी की एक छोटी-सी कहानी है।

बात यह है कि महरा की अस्सी साल की बूढ़ी माँ थी। महरा माँ को बेहद चाहता था। उसकी चाहत का यह आलम था कि उसने उसकी ख़ातिर शादी नहीं की। उसका मानना था कि कहीं घरवाली माँ को ईजा न दे, तंग न करे। माँ को कोई तंग करे-उसके लिए यह मर-मिटने वाली बात थी। माँ ने हज़ारों बार उससे अरदास की, विनती की कि वह शादी कर ले, नाती-पोतों को देखकर वह मरना चाहती है लेकिन उसने माँ की एक न मानी और कुँआरा ही रहा।

जिस लगन से वह काम करता, उसी लगन से माँ को चाहता भी था। माँ उसे सरवन कहकर पुकारती जबकि उसका नाम अच्छे था। माँ कहती — तू असली सरवन है, अवतार! भगवान सरवन तो माँ-बाप की सेवा से चूक गया था, तू उससे हज़ार कदम बेसी है, आगे है, लाल!

सरवन माँ के लिए मौसम का सबसे मीठा फल लाकर देता। आम, अमरूद, जामुन, खरबूजा, तरबूज, शहतूत, पपीता, जंगल जलेबी को वह चख के और टो-टो के लाता।

माँ उसके इस प्यार में बावली थी और सरवन को गाँव भर में बखानती फिरती।

कोई ऐसा दिन न गया जब उसने माँ का सिर या हाथ-पैर न टीपा हो। उसकी धोती फींचना और खाना बनाना सामान्य काम थे।

अतिशय प्यार के चलते माँ ने एक दिन सरवन से दबे स्वर में आँचल फैलाकर कहा — सरवन, तूने जो मेरी सेवा की है, भगवान साक्षी है। बस जिन्दगी में एक ही इच्छा है, अगर उसे तू पूरा कर दे तो मैं आराम से मरूँगी।

सरवन ने भाव विह्वल होते हुए कहा — माई, तू ऐसा क्यूँ बोलती है, तू क्या चाहती है ? बोल तो सही। सरवन जान देकर भी तेरी इच्छा पूरी करेगा।

बूढ़ी बोली— बेटा, पचास साल पहले, तेरा बाप मुझे परयाग कुंभ में स्नान के लिए ले गया था, तब मैंने गंगा मैया से तुझे माँगा था, और गंगा मैया ने तुझे हमें दिया। अब मैं तेरी सलामती की मन्नत माँगना चाहती हूँ ताकि मेरे बाद तू और भी फले-फूले।

— माई, इसकी क्या ज़रूरत है ? मुझे तो सिरफ तेरा आशीर्वाद चाहिए। किसी और के आशीर्वाद की ज़रूरत ही नहीं मुझे!!!

— बेटा, ऐसा न बोल! भगवान के आगे हम सब मट्टी-कूड़ा हैं लाल! लेकिन बेटा, मैंने गंगा मैया को कौल दिया था कि पचास साल बाद पड़ने वाले कुंभ में, मैं बेटे को लेकर ज़रूर आऊँगी! मैं दरसन के लिए जाना चाहती हूँ। तू नहीं ले चलेगा क्या ?

— क्यूँ नहीं ले चलूँगा, तेरी खातिर तो मैं कुछ भी कर डालूँ — सरवन ने प्यार में भर कर माँ को गले लगा लिया— ऐसे कैसे मान लिया कि मैं नहकार दूँगा।

फिर क्या था, अगले हफ़्ते, जब पूरा गाँव कोहरे में डूबा था, कड़ाके की सर्दी थी, सरवन, मुँह अँधेरे माँ के साथ प्रयाग कुंभ स्नान के लिए निकला।

सबसे बड़ी बात यह थी कि जिस तरह भारी भीड़ के बीच सरवन का बाप उसे रेलगाड़ी के डिब्बे के ऊपर बैठा के ले गया था, इस वक़्त उसका बेटा उसे उसी तरह बैठा के ले जा रहा था। उस वक़्त वह मरद का हाथ पकड़े थी, आज बेटे का। मरद गबरू जवान था। सिर पर लाल गमछा कसे था और कमर में मज़बूत फेंटा। पाँव में चमरौधा था, हाथ में तेल पिया लट्ठ! सरवन भी तकरीबन उसी धज में था। पता नहीं क्यों बूढ़ी को लगा कि वह सरवन के साथ नहीं, मरद के साथ स्नान के लिए जा रही है!

सूरज जब मीठी और अलसाई धूप फेंक रहा था, उस वक़्त रेलगाड़ी भारी शोर के बीच घड़घड़ाती हुई प्रयाग का विशाल पुल पार कर रही थी, थोड़ी देर बाद भारी जन सैलाब के बीच बूढ़ी ने गंगा मैया के दर्शन किए और सरवन के साथ कमर तक डूबे जल में सूरज भगवान को अर्घ्य दे रही थी...

भारी जन सैलाब के बीच बूढ़ी ने गंगा मैया के दर्शन किए और सरवन के साथ कमर तक डूबे जल में सूरज भगवान को अर्घ्य दे रही थी...

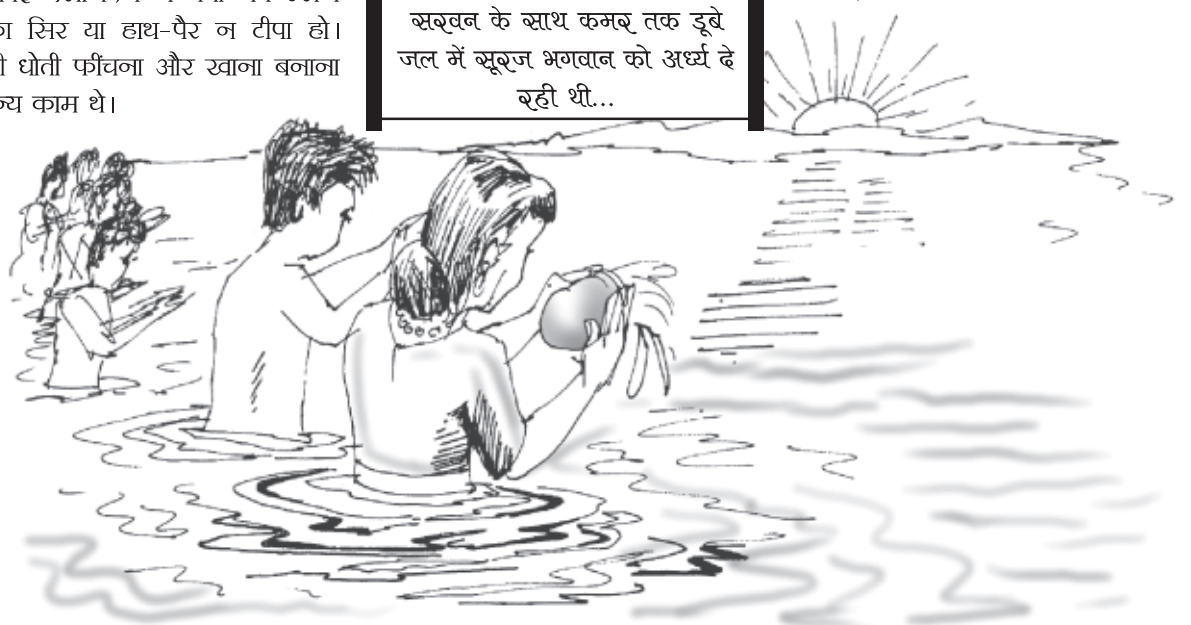

आस-पास लाखों-करोड़ों की तादाद में लोगों का समुद्र लहरा रहा था। रेलवे स्टेशन से संगम तक दोनों कैसे पहुँचे— यह पता न चला। बस वे चलते गये और भारी भीड़ ने धक्कों के सहारे उन्हें गंतव्य तक ला पटका। बूढ़ी को लग रहा था कि यहीं पिस के परान न निकल जाएँ।

एक पल में वह संगम पर जिन लोगों को देख पाई वे बूढ़े-जवान, औरत-मर्द, चड्डी-जांघिया-धोती लपेटे पानी में छपाके लगा रहे थे। नग्न-अर्धनग्न साधू-संन्यासियों का अंतहीन जत्था हाथियों पर सवार और पैदल अपने-अपने भगवानों-त्रिशूलों और बड़े-बड़े झण्डों के साथ जय-जयकारों में डूबा था। कहीं शंख बज रहे तो कहीं घड़ियाल-ड्रम, तासे और ढोल। सारा जनसमूह तालियाँ बजाता भगवान के जयकारे में मगन आंधी की तरह भागा चला जाता था। पुलिस का कड़ा इंतज़ाम था और उसकी निगरानी में स्नान चल रहा था। सैंकड़ों लाउड-स्पीकर क्या चीख रहे थे— शोर-गुल में कुछ समझ न आता था।

अर्घ्य के बाद जब बूढ़ी और सरवन ने आँखें खोलीं, बस यहीं, इसी क्षण अनर्थ हुआ था।

सरवन को याद है जब माँ अपनी सूखी हँड़ीली अंजुरी जोड़े सूरज भगवान के सामने सिर झुका रही थी, उस वक्त वह भी माँ के बगल खड़ा था, सूरज भगवान को आँखें बंद कर जल चढ़ा रहा था कि ज़ोरों का शोर हुआ। इतनी ज़ोरों का शोर कि कान के परदे फट जाएँ कि बस उसे कुछ पता नहीं कि आगे क्या हुआ। वह संगम किनारे रेत पर पड़ा था, बेहोश! बेहोशी टूटी तो देखा वह अकेला है, माँ कहीं नहीं! सैंकड़ों लोग चीख-चिल्ला, रो-पीट रहे हैं। सब अपने-अपने स्वजन के लिए हैरान-परेशान थे। वह भी माई माई की ज़ोरदार आवाज़ लगाने लगा।

माई उससे बिछुड़ गई थी और बिना एक पल रुके, चीखता-चिल्लाता, रोता, छाती पीटता माँ को खोज रहा था। तीन-चार दिन में ऐसी कोई जगह न थी जहाँ वह गया न हो — लेकिन बेकार! माँ उससे बिछुड़ी तो बिछुड़ ही गई।

एक हफ्ते बाद वह बेचारा रोता-पीटता गाँव लौटा तो गाँव के लोगों ने सांत्वना में उसे घेर लिया। किसी ने उसे रोटी दी तो किसी ने पानी।

लेकिन सरवन को रोटी-पानी नहीं, माई चाहिए थी।

दो-तीन दिन तक वह बेजान-सा निढाल पड़ा माई-माई कर सिसकता रहा।

चौथे दिन सवेरे जब वह पल भर को झपका, उसकी नींद उचट गई, उसे जांत चलने की आवाज़ सुनाई पड़ी। उसे लगा, माई है जो जांत चला रही है। वह झटपट उठ बैठा, बाहर की तरफ दौड़ा, देखा तो कहीं माई न थी। सत्तू घोसी था जो दूध दुहता हुआ अपनी घरवाली से कह रहा था कि माई अब कहाँ मिलने वाली है, गंगा मैया ने उसकी सुन ली, तभी तो वह असनान को गई थी...

— हम भी तो यही कहते हैं, लेकिन सरवन माने तो सही, पागलों की घाईं हरकत करता है... सत्तू की घरवाली गोबर काँछते हुए बोली— हम तो कहते हैं, वह सरग गई... इसका ग़म नहीं, ख़ुशी होनी चाहिए।

सरवन दोनों की बातों पर बुरा-सा मुँह बनाता, सुग्गे के पास आया और सुग्गे से पूछा— माई कहाँ है परवत्ते ?

सुग्गा पिंजरे का चक्कर लगाता — माई-माई की तीखी टेर लगाने लगा जैसे वह उसके ग़म में ख़ुद दुखी हो। जब सरवन ने झुककर उससे फिर प्यार से पूछा तो सुग्गा तीखी टेर मारने लगा जैसे कह रहा हो — माई तेरी नहीं, मेरी भी थी। अब रोने की नहीं, उसे खोजने की ज़रूरत है ? जा खोज तो सही। माई मिलेगी, ज़रूर मिलेगी, पक्के में।

चौथे दिन सरवन माई की खोज के लिए प्रयाग रवाना हुआ, लौटा तो पूर्व की तरह अकेला था, माई उसे नहीं मिली थी।

माई की खोज में वह दस बार प्रयाग गया होगा लेकिन हर बार वह निराश ही रहा, बावजूद इसके हर बार उसे लगा, माई मिलेगी, ज़रूर मिलेगी।

इस बार वह फिर माई की खोज में जा रहा है, उसने तै कर लिया कि अगर इस बार माई न मिली तो वह गंगा की गोद में समा जाएगा, लौटेगा तो माई के साथ, नहीं, डूब मरेगा!!!

सत्तू और मुहल्ले के लोगों ने उसे लाख समझाया, लेकिन उसने एक की न सुनी और अपनी बात दोहराता रहा। और माई-माई कर रोता रहा।

पूरनमासी को दूसरे दिन अल-सुबह ही जब चाँद चारों तरफ़ दूधिया शीतल नम चाँदनी बिखेर रहा था, सरवन अपनी माई के साथ गाँव में दाख़िल हुआ — उस वक़्त बेतरह ख़ुश और उसके आवेग में रोता हुआ वह लोगों को गला फाड़कर पुकार रहा था कि देख, माई मिल गई, देख, माई मिल गई!!! सत्तू, अँजोरे, उदैया! देख तो, माई मिल गई!!!

पल भर में समूचा गाँव इकट्ठा उसके पास हो गया।

सरवन जो सामने आता दीखता, चिल्लाता उसकी तरफ लपकता और रोता कहता — देख माई आ गई! मैं कहता था न कि माई मिलेगी, देख, मिल गई! और कैसे न मिलती। सरवन कभी माई के बिना रह सकता है। कभी नहीं, कभी नहीं। देख, माई थोड़े से दिन में कैसी हो गई, करिया, दूबर-दूबर! हाड़ निकल आए! बिचारी को नाकिसों ने रोटी-जल भी न दिया, लेकिन माई, तू फिकर मत कर! तेरा यह लाल ऐसी सेवा करेगा कि दुनिया रस्क करेगी...

थोड़ी देर बाद सरवन माई को दूध में रोटी मीड़ के अपने हाथों से खिला रहा था।

गाँव के लोग इस बात से दंग थे कि सरवन को कहीं कुछ हो तो नहीं गया। पता नहीं किस बुढ़िया को माई समझ के ले आया और माई-माई कर रहा है। और ताल-बेताल बके जा रहा है।

लेकिन किसी ने इस रहस्य को सरवन के सामने नहीं खोला। ◆

(नया ज्ञानोदय से साभार)

दयानंद पांडेय

अपनी कहानियों और उपन्यासों के मार्फ़त लगातार चर्चा में रहने वाले दयानंद पांडेय का जन्म 30 जनवरी, 1958 को गोरखपुर जिले के एक गांव बेदौली में हुआ। हिंदी में एम.ए. करने के पहले ही से वह पत्रकारिता में आ गए। 28 साल हो गए हैं पत्रकारिता करते हुए। उनके उपन्यास और कहानियों आदि की कोई एक दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हैं। एक उपन्यास और एक कहानी संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा 'लोक कवि अब गाते नहीं' उपन्यास पर प्रेमचंद सम्मान।

लोक कवि अब गाते नहीं, अपने-अपने युद्ध, दरकते दरवाज़े, जाने-अनजाने पुल (उपन्यास), सुमि का स्पेस, एक जीनियस की विवादास्पद मौत, सुंदर लड़कियों वाला शहर, बड़की दी का यक्ष प्रश्न, संवाद (कहानी संग्रह), सूरज का शिकारी (बच्चों की कहानियां), प्रेमचंद व्यक्तित्व और रचनादृष्टि (संपादित) तथा सुनील गावस्कर की प्रसिद्ध किताब 'माई आइडल्स' का हिन्दी अनुवाद 'मेरे प्रिय खिलाड़ी' नाम से प्रकाशित।

संपर्क - 5/7, डालीबाग़ लखनऊ
फ़ोन नं. : 0522-2207728, मोबाइल नं. : 09335233424
e-mail-dayanand.pandey@yahoo.com

मन्ना जल्दी आना!

शहर में उस रोज़ यह ख़बर सुलगते देर नहीं लगी कि एक पाकिस्तानी पकड़ा गया है। पर जब लोगों ने जाना कि वह पाकिस्तानी कोई और नहीं अब्दुल मन्नान हैं तो जो चिंगारी शोला बनना चाहती थी यकबयक फुस्स हो गई, पर फुसफुसाहट नहीं ख़त्म हुई। किसिम-किसिम की बातें, किसिम-किसिम के आरोप-प्रत्यारोप। बिलकुल घटाटोप! सर्दियों का वह कोई दिन था। पर शहर में सर्दी पर इस ख़बर की गरमी तारी थी।

अब्दुल मन्नान जाति के जुलाहा थे। जुलाहा भले ही थे अब्दुल लेकिन जाहिल नहीं थे। पढ़ने-लिखने में बचपन से ही अव्वल थे। अंगरेज़ी में एम.ए. कर यूनिवर्सिटी टॉप किया और गोल्ड मेडलिस्ट बने। वह भी तब जब ज़्यादातर मुस्लिम लड़के मदरसे में इस्लामी पढ़ाई भी पूरी नहीं कर पाते थे या फिर मदरसा से आगे नहीं जा पाते, लेकिन अब्दुल ने एम.ए. किया और जुलाहा का बेटा होने के बावजूद किया। सीमित साधनों में पढ़-लिख कर टॉपर और गोल्ड मेडलिस्ट बन के अब्दुल ने अपने ख़ानदान का नाम रौशन कर दिया। तभी उन के इस्तकबाल के लिए उनकी ससुराल

अब्दुल के ससुराल का मकान जला दिया गया था, ज़ायदाद लूट ली गई थी। अब्दुल के ससुर और एक साले की हत्या हो गई। बाक़ी लोग बचते-बचाते जान लिए पाकिस्तान भाग लिए। अब्दुल ने भी भाग कर बीवी-बच्चों समेत हिंदुस्तान की राह पकड़ी।

से भी बुलावा आ गया। उन की ससुराल तब पूर्वी पाकिस्तान में थी। वह अपनी बीवी के साथ ससुराल रवाना हो गए। वहां भी उन का बड़ा स्वागत हुआ। हालां कि शुरू-शुरू में कुछ लोगों ने मन्नान को हिंदुस्तानी जासूस कह कर बदनाम किया, लेकिन उनके ससुर की वहां इतनी धाक थी कि यह दाग़ मन्नान के सिर से जल्दी ही हट गया। ससुराल के लोग खाते-पीते लोग थे सो अब्दुल कुछ रोज़ वहीं रह गए। फिर एक डिग्री कालेज में प्रिंसिपल हो गए और बाक़ायदा ससुराल में रह कर ज़िंदगी का मज़ा लूटने लगे। कहने वाले कहते हैं कि वहां उनकी एक साली थी, वह उस पर लट्टू हो गए थे सो वहीं रहने लगे। बहरहाल, जो भी हो धीरे-धीरे वह वहीं के हो कर रह गए। ज़िंदगी चैन से कट रही थी कि तभी उन पर आफत बरपा हो गई।

वह भी सर्दियों के दिन थे। भारत पाकिस्तान में जंग शुरू हो गई। जंग खत्म होने के बाद पूर्वी पाकिस्तान का अस्तित्व खत्म हो चुका था। अब नया देश बांगलादेश दुनिया के नक्शे पर उभर आया। लेकिन भारत पाकिस्तान के बीच जंग भले ही खत्म हो गई थी वहां बांगलादेश में आपस में लोगों में खून खराबा जारी था। खास कर बिहारी मुसलमानों की वहां खैर नहीं थी। तब वहां माना जाता था कि बिहारी मुसलमान पाकिस्तान परस्त हैं। बांगलादेश बनने के पहले भी बिहारी मुसलमानों और बंगाली मुसलमानों में भारी मतभेद थे। बल्कि बांगलादेश बनने का यही बड़ा सबब बना। बिहारी मुसलमान और बंगाली मुसलमान तब के दिनों भी अगल बगल खड़े हो कर नमाज़ तो पढ़ लेते थे, लेकिन शादी-ब्याह और खान-पान इनके बीच नहीं था। रोटी और बेटी का रिश्ता नहीं था। दूसरे, बिहारी मुसलमानों की भाषा उर्दू थी जब कि बंगाली मुसलमानों की बांगला। एक दुश्वारी यह भी थी कि बंगाली मुसलमानों को लगता था कि उर्दू उन पर लादी जा रही है। उनको लगता था कि बिहारी उन का मज़ाक उड़ाते हैं। पर आबादी के हिसाब से बंगाली मुसलमान ज़्यादा थे सो बिहारी मुसलमानों को जब तक सबक़ सिखाते रहते थे। पर ज़्यादातर बिहारी मुसलमान आर्थिक रूप से संपन्न थे, ऊंची कुर्सियों पर थे। सो वह बंगाली मुसलमानों को मौक़ा पाते ही रगड़ते रहते थे। नतीजतन दोनों वर्गों के बीच गहरी खाई खुदती गई। हालांकि तब के वहां के नेता शेख मुजीबुर्रहमान जो खुद भी बंगाली मुसलमान थे, फिर भी वे चाहते थे कि दोनों वर्ग मिल-जुलकर रहें। बांगलादेश आज़ाद होने के बाद सत्ता उन्होंने ज़रूर संभाल ली, लेकिन इस खाई को पाटने के पहले ही उन की हत्या हो गई। खून खराबा शुरू हो गया। अब्दुल के ससुराल का मकान जला दिया गया था, ज़ायदाद लूट ली गई थी। अब्दुल के ससुर और एक साले की हत्या हो गई। बाक़ी लोग बचते-बचाते जान लिए पाकिस्तान भाग लिए। अब्दुल ने भी भाग कर बीवी-बच्चों समेत हिंदुस्तान की राह पकड़ी।

भाग कर अपने घर आए। घर की छत के नीचे सुकून ढूंढने। पर यहां तो वह पाकिस्तानी डिक्लेयर हो चुके थे। बांगलादेश से ज़्यादा आफत यहां थी। वहां तो खून-खराबा था, यहां उससे भी ज़्यादा अविश्वास की नागफनी मुंह बाए खड़ी थी। और वो जो कहते हैं न कि जैसे नागफनी का कांटा नागफनी को खुद चुभ जाए! वही हालत हुई थी तब अब्दुल मन्नान की। हिंदू तो खुले आम उन्हें पाकिस्तानी जासूस कह कर ताना क्या कसते थे, लगभग जूता मारते थे, लेकिन मुसलमानों में भी कम अविश्वास नहीं था उनके प्रति। मुसलमान भी जल्दी से उन से बात नहीं करते थे। करते भी तो सीधे मुंह नहीं। तो इसलिए कि अव्वल तो जुलाहों में पढ़ाई-लिखाई का अभाव था सो जाहिलियत! दूसरे, कहीं पुलिस पाकिस्तानी होने के फेर में सब के गले में फंदा न डाल दे। तीसरे, पट्टीदार भी चाहते थे कि अब्दुल को पाकिस्तान भेज दिया जाए ताकि उन के हिस्से के मकान, ज़ायदाद पर उन का कब्ज़ा बना रहे।

वैसे भी हर दूसरे, तीसरे रोज़ पुलिस आती अब्दुल को मय परिवार के उठा ले जाती पूछताछ के लिए। जाने कौन-सी पूछ-ताछ जो ख़त्म नहीं होती थी और पुलिस फिर-फिर पकड़ ले जाती। तो अब्दुल मन्नान की मदद में कोई खड़ा नहीं होता। अब्दुल अपना राशन कार्ड, पुरानी वोटर लिस्ट, अपने नाम पुश्तैनी मकान के कागज़ात, अपनी पढ़ाई लिखाई के सर्टिफिकेट, यूनिवर्सिटी टॉपर होने, गोल्ड मेडलिस्ट होने और अपने को सभ्य शहरी होने की ढेरों दलीलें रखते।

लेकिन सब बेअसर!

पागल हो गए थे अब्दुल मन्नान। खाने के लाले पड़ गए। फांका होने लगा। कोई मकान तक खरीदने या गिरवी रखने को तैयार न था। कोई मामूली-सा काम या नौकरी देने को तैयार न था। अब्दुल काम मांगने बाद में जाते, उन से पहले उन के पाकिस्तानी होने की ख़बर पहुंची रहती। उनकी पत्नी थोड़ी खूबसूरत थीं सो थक हार कर पत्नी को साथ ले वह तमाम छोटे बड़े नेताओं, मौलानाओं, अफ़सरों के घर भी गए, सिर पटका, गिड़गिड़ाए, अपने सोलहो-आने हिंदुस्तानी होने का वास्ता दिलाया, सुबूत दिया, कुरआन की कसमें खाईं। पर सब बेकार, सब बेअसर!

एक बार मय बीवी बच्चे के ज़हर खा कर मरने की कोशिश भी की अब्दुल मन्नान ने। पर खाना न देने वाले, काम न देने वाले लोग ही उठा कर उन्हें अस्पताल ले गए और वह सपरिवार बच गए।

यह बात सारे शहर में आग की तरह फैल गई। हिंदुओं में तो फिर भी नहीं, मुसलमानों में थोड़ी-थोड़ी सहानुभूति अब्दुल के प्रति उपजने लगी।

ऐसे ही मुसलमानों में एक थे मुहम्मद शफ़ी।

मुहम्मद शफ़ी एक प्रिंटिंग प्रेस चलाते थे। प्रेस उनका काफी बड़ा था। इस प्रेस से वह उन दिनों सोलह पेज का एक साप्ताहिक अख़बार भी निकालते थे। और

चूंकि तब शहर में कोई दैनिक अख़बार नहीं था सो उन के अख़बार की तूती बोलती थी। बनारस, लखनऊ से छप कर कुछ हिंदी, अंगरेज़ी अख़बार तब वहां पहुंचते ज़रूर थे, कुछ साप्ताहिक, पाक्षिक अख़बार और भी थे शहर में, पर जो हनक और रसूख मुहम्मद शफ़ी के अख़बार की थी, किसी और अख़बार की तब के दिनों बिलकुल नहीं थी। मुहम्मद शफ़ी ने भी बड़ा संघर्ष किया था। थे तो धुर देहात के। पिछड़े हुए तराई इलाक़े के और बीड़ी बना-बना कर पढ़ाई की थी। सोशियोलाजी में एम.ए. थे। पर अब्दुल मन्नान की तरह टॉपर या गोल्ड मेडलिस्ट नहीं थे। पर ज़िंदगी ज़रूर वह सलीके से ऐश करते हुए जी रहे थे। कुछ सालों तक मुहम्मद शफ़ी ने दिल्ली के एक बड़े अख़बार में भी काम किया था और वहां के पोलिटिकल सर्किल में अपनी पैठ भी बनाई थी। प्रधानमंत्री तथा कई मंत्रियों के साथ अपनी फ़ोटो भी अलग-अलग खिंचवा रखी थी उन्होंने। उनकी प्रतिभा को देखते हुए पूर्वांचल के एक केंद्रीय मंत्री उन्हें वापस यहां लाए और एक अख़बार निकालने का पूरा सेटअप दिया। लंबा चौड़ा स्टाफ़ रखा। उन दिनों जब पत्रकार चप्पलें चटकाते घूमते थे वैसे में हैंडसम सेलरी विथ कार एंड ड्राइवर दिया। तो मुहम्मद शफ़ी ने भी अच्छा अख़बार निकाल कर तहलका मचा दिया। उनकी महत्त्वाकांक्षाएं बढ़ने लगीं। जल्दी ही उन्हों ने मंत्री जी का सब कुछ गड़प कर अपना अख़बार शुरू कर दिया। यह अख़बर भी चल निकला। अब शफ़ी ही शफ़ी थे, हर तरफ। इसी बीच संसदीय चुनाव आ गया। शफ़ी ने अपने तराई क्षेत्र की सीट से कांग्रेस का टिकट जुगाड़ लिया। प्रतिद्वंदियों को अच्छी टक्कर दे वह जीत भी रहे थे लेकिन तब के जनसंघियों ने कांग्रेस उम्मीदवार शफ़ी को हराने के लिए एक निर्दलीय मुस्लिम उम्मीदवार खड़ा कर दिया था। वह निर्दलीय मुस्लिम उम्मीदवार शफ़ी के काफी मुस्लिम वोट काट रहा था। शफ़ी ने उसे कई बार चुनाव में अपने पक्ष में बैठाने की कोशिश की। पैसे आदि का प्रलोभन दिया, डराया धमकाया। गरज़ यह कि साम, दाम, दंड, भेद सब अपनाया पर वह निर्दलीय मुस्लिम उम्मीदवार शफ़ी की बातों, धमकियों या प्रलोभन में आया नहीं। उसे शफ़ी के विरोधियों ने दरअसल समझा दिया था कि अब तो तुम्हीं जीतोगे और वह इसी गुमान में अड़ा रहा। चुनाव में शफ़ी को कड़ी टक्कर देता रहा कि उस की एक रात अचानक हत्या हो गई। तोहमत शफ़ी के सिर आ गई। शफ़ी कहते रहे, चिल्लाते रहे कि, ''यह मुझे हराने की जनसंघियों की साजिश है, मुझे फंसाया जा रहा है।'' पर शफ़ी की किसी ने एक न सुनी। मुसलमानों ने भी नहीं। बल्कि क्षेत्र के मुसलमानों ने तो उन से नफ़रत शुरू कर दी।

शफ़ी चुनाव हार गए। हत्या दरअसल उस निर्दलीय मुस्लिम प्रत्याशी की नहीं वास्तव में मुहम्मद शफ़ी की हुई थी। राजनीतिक हत्या!

शफ़ी के हारने में यह हत्या तो एक फैक्टर था ही, एक फैक्टर और था। दरअसल शफ़ी जब दिल्ली में थे तब एक हिंदू परिवार में उन का आना जाना बहुत बढ़ गया था। पैसे और अपने रसूख के दम पर उन्होंने उस परिवार की मालकिन को गांठ लिया। यह लोग भी हालांकि पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इटावा के ही रहने वाले थे, फिर भी शफ़ी और उन लोगों के लिए काफी था यू.पी. — यू.पी.! हिंदू-मुस्लिम की दीवार भी पैसे के दबाव और रसूख की आंच में बह गई। वह परिवार व्यवसायी था और शफ़ी ने अपने रसूख के दम पर उनके बिज़नेस को खूब प्रमोट करवाया। कोई दिक्क़त नहीं थी। अब तक उस महिला से शफ़ी के सरोकार काफी 'प्रगाढ़' हो चले थे। हालांकि शफ़ी शादीशुदा थे पर उनकी अनपढ़ जाहिल पत्नी तराई के उन के गांव में रहती थी। शफ़ी पहले तो उसके लिए भागे-भागे गांव पहुंचते थे, लेकिन तब लड़कपन था। पर अब तो वह उसकी चर्चा तो दूर अपने को कुंवारा ही फ़रमाते।

बाद में जब उनका इस शहर में भी वापस आना हुआ तो भी उन्होंने उस परिवार से नाता नहीं तोड़ा। प्रगाढ़ ही रखा। बल्कि उस परिवार का आना जाना बाद में इस शहर में भी हो गया। सारे खर्चे-बर्चे शफ़ी उठाते। इस आने जाने के बीच उस हिंदू परिवार की मालकिन की दो बेटियां भी बड़ी होने लगीं। एक बेटी अंजू तो बला की ख़ूबसूरत थी। वह बोलती थी तो लगता जैसे मिसरी फूट रही हो। उस की कानवेंटी हिंदी अजीब-सा कंट्रास्ट घोलती। चलती तो लगता जैसे किसी फूल की कली फूट रही हो। उसके होंठ भी बड़े नशीले थे। और आंखें तो ऐसी गोया ख़य्याम की रुबाई हों। उसकी शोख हंसी से लोगों के दिलों में मछलियां दौड़-दौड़ जातीं। तो ऐसे में शफ़ी कौन से ब्रह्मचारी थे ? वह कैसे न फ़िदा होते इस अंजू नाम की लड़की पर। क्यों न मर मिटते उस पर! भले वह उनकी माशूका की बेटी थी। तो क्या, शफ़ी ने भी रूसी उपन्यास 'लोलिता' पढ़ रखा था। फिर पड़ गए वह भी इस अंजू रूपी लोलिता के कपोलों के किलोल में। उस के कपोलों पर लटकती ज़ुल्फों के असीर हो गए। बतर्ज़ मीर — 'हम हुए तुम हुए कि मीर हुए, सब इसी ज़ुल्फ़ के असीर हुए।'

अंजू भी सोलह-सत्तरह के चौखटे में थी। सेक्स के पाठ में जल्दी ही प्रवीण हो गई शफ़ी के साथ। शफ़ी के हाथ क्या पड़े उस पर कि उस की रंगत ही बदल गई। देह उस की गदराने लगी। अंजू की मां को कुछ-कुछ भरम-सा हुआ, शक़ शफ़ी पर भी गया पर जब तक शक़ पक्का होता हवाता बात बहुत आगे बढ़ चुकी थी। अंजू शफ़ी के बच्चे की मां बनने वाली थी।

अब क्या करे अंजू ?

क्या करे अंजू की मां ?

बात अंजू के पिता तक पहुंची। उन्होंने माथा पीट लिया। बोले, 'मुँह काला करने के लिए इसे मुसलमान ही मिला था ?' अब उन्हें कौन समझाता भला कि यह मुसलमान उन के घर में बरसों

शफ़ी के हाथ क्या पड़े उस्र पर् कि उस्र की रंगत ही बदल गई। देह उस्र की गदर्ाने लगी। अंजू की मां को कुछ-कुछ भर्म-सा हुआ, शक़ - शफ़ी पर् भी गया पर् जब तक शक़ पक्का होता हवाता बात बहुत आगे बढ़ चुकी थी। अंजू शफ़ी के बच्चे की मां बनने वाली थी।

से सेंध लगाए पड़ा है। कौन बताता उन्हें कि बेटी तक तो वह बाद में आया, पहला पड़ाव तो मां बनी जो आपकी बीवी है। आपकी बीवी ही पुल बनी आपकी बेटी तक शफ़ी को पहुंचाने में। लेकिन बिज़नेस प्रमोट करवाने के चक्कर में आपकी आंख बंद रही तो कोई क्या करे भला ?

ख़ैर अंजू के मां बनने की ख़बर से पूरा घर तबाह था। अगर कोई निश्चिंत था तो वह खुद अंजू थी। शफ़ी ने सपनों के ऐसे शहद चखा रखे थे अंजू को, प्यार के ऐसे पाठ पढ़ा रखे थे अंजू को, कि उसे कोई फ़िक्र होती भी तो कैसे ? ज़िंदगी के थपेड़ों की उसे थाह भी नहीं थी। वह तो अपनी खूबसूरती की चाश्नी में मकलाती फुदकती रहती।

अंततः मां ने पहल की पूछा, अंजू से, 'तू क्या चाहती है ?'

'किस बारे में ?' अंजू चहकती हुई प्रति-प्रश्न पर आ गई।

'इस बच्चे के बारे में।' मां ने साफ किया, 'तेरे होने वाले बच्चे के बारे में ?'

'जैसा शफ़ी साहब कहेंगे!' वह फिर चहकती हुई बोली।

'तुम ने कोई बात की है इस बारे में शफ़ी से ?'

'नहीं, बिल्कुल नहीं।'

'करेगी भी ?'

'ज़रूरत क्या है ?'

'ज़रूरत है।' मां बोली, 'मैं ट्रंकाल बुक करती हूँ। बात तू कर।'

'जल्दी क्या है अभी ?' अंजू बोली, 'अगले हफ़्ते तो वह आने वाले हैं ?'

'कौन आने वाले हैं ?'

'शफ़ी साहब!' अंजू यह कहती हुई लिरिकल हो गई।

'अगले हफ़्ते तक नहीं रुक सकती मैं।' मां बोली, 'तू आज ही बात कर!'

'तो तुम ट्रंकाल बुक करो मम्मी!'

फ़ोन पर बात के बाद मां ने अंजू से पूछा, 'तो फिर ?'

'ओह मम्मी!' अंजू मां के गले में बाहें डालती हुई बोली, 'डोंट वरी, वह शादी के लिए तैयार हैं।'

'कौन शादी के लिए तैयार हैं ?' मां ने चकराते हुए पूछा।

'शफ़ी साहब!' अंजू इतराती हुई बोली, 'अरे कौन शादी के लिए तैयार होगा?' वह अपने पेट पर हाथ रखती हुई बोली, 'जिस का बच्चा है वही तो तैयार होगा!'

'ओफ़्फ!' कह कर मां ने माथे पर हाथ रख लिया। बोली, 'तुझे पता है कि शफ़ी तुझसे दोगुनी उमर से भी ज़्यादा का है ?'

'पता है मम्मी।' वह बोली, 'दिस इज नाट माई प्राब्लम!' उस ने जोड़ा, 'माई प्राब्लम इज दैट आई लव हिम!' मां का मन हुआ कि अंजू को बताए कि तुझे पता है, तेरा शफ़ी मुझ से भी लव करता रहा है ? पर यह सवाल वह पी गई। बतातीं भी तो कैसे बतातीं, बेटी से भला यह और ऐसी बात!

शफ़ी ने सचमुच अंजू से शादी कर ली। शहर में यह बात तेज़ी से फैली कि शफ़ी ने एक नाबालिग हिंदू लड़की को भगा फुसला कर शादी कर ली। इस शादी की हवा इतनी तेज़ बही शहर में कि एक बार तो हिंदू-मुस्लिम फ़साद की नौबत आ गई। पर ग़नीमत कि बात सिर्फ़ टेंशन तक आ कर ही निपट गई।

बाद में शफ़ी ने अपने प्रोग्रेसिव होने का सुबूत दिया। अंजू का नाम अंजू ही रहने दिया। उसे मुस्लिम बनाने पर ज़ोर नहीं दिया। न सिर्फ़ इतना बल्कि अंजू के साथ वह बाक़ायदा होली, दीवाली भी मनाते और अंजू उन के साथ ईद, बकरीद मनाती। अंजू के एक बेटी हुई। उस के तालीम की अच्छी से अच्छी व्यवस्था की शफ़ी ने और बाद में उसे नैनीताल के एक बोर्डिंग स्कूल में डाल दिया। यह अलग बात है एक बच्ची की मां बन जाने के बावजूद अंजू के हुस्न में कोई कटौती नहीं हुई उल्टे इज़ाफ़ा हुआ। कई बार तो शफ़ी ने अपनी तस्क्की के लिए अंजू के हुस्न की सीढ़ी का इस्तेमाल किया और खूब किया। इतना ही नहीं अंजू की छोटी बहन पर भी शफ़ी ने डोरे डाले और उसका भी खूब इस्तेमाल किया। पर अंजू के हुस्न के आगे वह फिर भी छोटी पड़ती। सुंदरता में अंजू के आगे वह कहीं ठहरती भी नहीं थी।

तो एक यह फैक्टर भी शफ़ी के चुनाव के ख़िलाफ़ गया। कि शफ़ी ने मुस्लिम बीवी को छोड़ हिंदू औरत को रख लिया।

शफ़ी ने फिर-फिर चुनाव लड़ा और फिर-फिर हारे। कांग्रेस से टिकट नहीं मिला तो निर्दलीय लड़े। संसदीय चुनाव लड़े, नहीं जीते तो विधानसभा के चुनाव लड़े। फिर भी जीत उनकी झोली में नहीं आई।

क्योंकि उनकी तो राजनीतिक हत्या हो चुकी थी।

चुनावी राजनीति में, वोट की राजनीति में मुसलमान उनके ख़िलाफ थे। सो वह चुनाव हारते रहे। पर व्यावहारिक राजनीति में तो शफ़ी की तूती बोलती थी। शहर में उन दिनों वह 'मिनिस्टर विदआऊट पोर्टफ़ोलियो' कहे जाते थे। कुछ अपनी बुद्धि, तिकड़म और जोड़-तोड़ की महारथ के दम पर तो ज़्यादा कुछ अपनी पत्नी अंजू के हुस्न के दम पर। हालांकि शफ़ी थे जीनियस, लेकिन राजनीति और अख़बार दोनों एक साथ साधने में वह 'सिद्ध' नहीं हो पाए। दो नावों में पांव रखना उन्हें भारी पड़ा। लोग कहते थे कि अगर शफ़ी साहब ने सिर्फ़ पत्रकारिता की होती तो वह बहुत बड़े पत्रकार हुए होते और जो सिर्फ़ राजनीति की होती तो बेहद सफल राजनीतिज्ञ हुए होते। पर दोनों के फेर में न इधर के हुए, न उधर के। हुस्न का हसिया उनको काटता रहा! जो भी हो तमाम मंत्री, तमाम-अफ़सर, तमाम नेता और तमाम लोग मुहम्मद शफ़ी पर मेहरबान थे उन दिनों। और यही मुहम्मद शफ़ी अब अब्दुल मन्नान पर मेहरबान होने जा रहे थे।

शफ़ी ने आदमी भेज कर मन्नान को बुलवाया। मन्नान से पहले तो सहानुभूति जताई फिर सारा हाल जाना। उनके सारे कागज़ात देखे। पूर्वी पाकिस्तान के कालेज में उनके प्रिंसीपल वाला नियुक्ति पत्र भी देखा। मन्नान से कहा कि, 'आप पढ़े लिखे हैं। अपनी पूरी कहानी खुद लिख डालिए।' मन्नान ने लिखा और पूरे दिल से लिखा। सारी तकलीफ, सारा अपमान, सारी ज़िल्लत पूरी संवेदना और शऊर से ब्यौरेवार लिखा।

मन्नान के इस लिखे को शफ़ी ने थोड़ा 'रीटच' किया और अपने अख़बार में मय मन्नान और उन के परिवार के फ़ोटो सहित छापा। हेडिंग लगाई, 'मैं कैसे नहीं हूं हिंदुस्तानी!' दिल दहला देने वाले, रोंगटे खड़े कर देने वाले इस लेख को पढ़ कर लोगों की आंखें फैल गईं। फिर सब देख कर शफ़ी ने एक बड़े वकील से कंसल्ट किया। वकील भी मुसलमान था। उसे कुरआन शरीफ़ का वास्ता दिया, फिर कंसलटेंसी फीस दे कर कानूनी पेचीदगियां जानीं, तब अफ़सरों से संपर्क किया। दिल्ली के राजनीतिक संपर्कों को खंगाला। विदेश मंत्रालय से लगा गृह मंत्रालय तक पैरवी करवाई और इस सब के लिए शहर के मुसलमानों से चंदा लिया। मन्नान के पास तो फूटी कौड़ी नहीं थी, शफ़ी अपना पैसा गलाना नहीं चाहते थे सो कुछ अमीर मुसलमानों को सेंटीमेंटल गिरफ़्त में लिया, बताया कि यह आफत तो किसी भी उस मुसलमान पर आ सकती है, जिस की नाते-रिश्तेदारी कभी भी पाकिस्तान में रही हो। तो एकजुट होना ज़रूरी बताया। फिर अपना रसूख दिखाया और भारी भरकम चंदा बटोर लिया था। जो भी हो मन्नान का काम पूरा न सही, निन्यानबे फ़ीसदी हो गया था। केस चलना था और लोकल इंटेलिजेंस यूनिट यानी एल. आई. यू. में हर महीने हाजिरी लगानी थी।

मन्नान, शफ़ी के इस किए से उन के गुलाम से हो गए। अंततः शफ़ी ने मन्नान को अपने प्रेस का मैनेजर भी बना दिया। मन्नान की बेगम भी पढ़ी लिखी थीं, उन्हें लड़कियों के एक मुस्लिम स्कूल इमामबाड़ा में टीचरी मिल गई।

मन्नान की मेहनत और शफ़ी की इनायत से मन्नान के परिवार की गाड़ी चल निकली क्या, दौड़ पड़ी। अब मन्नान के दिन अमन चैन से कट रहे थे। सब से बड़ा लड़का हैंडलूम के पुश्तैनी कारोबार में लग गया था। शादी भी हो गई थी। दूसरा लड़का उन का अब यूनिवर्सिटी पढ़ने जाने लगा था, तीसरा इंटर में था। एक लड़की थी उसकी शादी हो गई थी और अब वह दूसरे लड़के की शादी के लिए फिक्रमंद हो चले थे।

हालां कि शफ़ी के आफ़िस में काम थोड़ा ढीला चल रहा था। कई बार तो कर्मचारियों को वेतन की मुश्किल हो जाती। कई बार हफ़्ते-दस रोज़ की देरी हो जाती वेतन बंटने में। कर्मचारी आते मैनेजर मन्नान से एडवांस मांगते तो मन्नान छूटते ही कहते, 'ज़हर खाने को पैसा नहीं है और तुम लोग एडवांस मांग रहे हो।' वह कहते, 'पैसा होता तो सेलरी न तुम लोगों को बांट देता!'

मन्नान अब बूढ़े हो चले थे पर उन के काम में कहीं कोई कमी नहीं थी। फिर भी प्रेस में दिक्कत थी तो मन्नान के नाते नहीं शफ़ी की पॉलिसी के नाते!

शफ़ी ने दरअसल अब दिल्ली से एक उर्दू अख़बार भी निकालना शुरू कर दिया था। सारा पैसा वह उसी में एडजस्ट कर देते। दूसरे, प्रेस में अब नई-नई टैक्नीक आ चली थी, कंप्यूटर की आमद हो गई थी सो काम भी कम होता जा रहा था। टी.वी. वग़ैरह ने अख़बारों का यूं ही धुआं निकाल रखा था। मन्नान कई बार इस तंगी से आज़िज़ आ प्रेस की नौकरी छोड़ अपना कोई कारोबार लगाने की भी योजना बनाते लेकिन शफ़ी की इनायतों की याद उन्हें रोक लेती। जैसे-तैसे वह काम चला रहे थे।

मन्नान उस रोज़ आफ़िस में आ कर बैठे ही थे कि तभी पुलिस आ गई। दारोगा ने कहा कि, 'ज़रा आइए पुलिस आफ़िस चालिए!'

'आख़िर बात क्या है ?'

'मन्नान ने परेशान हो कर पूछा।'

'कुछ नहीं।' दारोगा बोला, 'बस रुटीन बात करनी है।'

'लेकिन मामला तो अब सब ख़त्म हो चुका है।' मन्नान बिफरे।

'हां, फिर भी कुछ बात करनी है।'

'चलिए!' कह कर मन्नान आफ़िस

से चल दिए। इकट्ठा हुए कर्मचारियों को तसल्ली दी। बोले, 'कुछ नहीं रुटीन बात करनी है। तुम लोग काम करो।'

पर मन्नान जब दारोगा के साथ पुलिस आफ़िस पहुंचे तो वहां उन की पत्नी, बच्चे सभी बैठे मिले तो उनका माथा ठनका। उन्हें बताया गया कि उन्हें सपरिवार हिंदुस्तान छोड़ने का आदेश हो गया है। यह सुनते ही मन्नान के होश उड़ गए। पत्नी, बच्चे अलग रोए जा रहे थे। मन्नान की बात कोई सुनने को तैयार नहीं था। आख़िर वह अपने लिखे पुराने लेख की हेडिंग चिल्लाने लगे, 'कैसे नहीं हूं मैं हिंदुस्तानी!'

वह बार-बार यह हेडिंग चिल्लाते। पर कोई सुनने वाला ही नहीं था।

अंततः दोपहर के समय एक अफ़सर के सामने उन्हें पेश किया गया तो मुख्तसर में अपना सारा क़िस्सा मन्नान ने बयान किया। अफ़सर ने मन्नान के साथ सहानुभूति जताई, लेकिन असमर्थता जताते हुए कहा कि, 'मैं आपकी कोई मदद नहीं कर सकता।' उसने बड़े सर्द ढंग से बताया, 'आदेश दिल्ली से आया है। केंद्रीय गृह मंत्रालय का आदेश है!'

'लेकिन अब तो जहां मैं रहता था, जहां मेरी ससुराल थी, पाकिस्तान में नहीं है।' उन्होंने जोड़ा, 'पूर्वी पाकिस्तान तो अब रहा नहीं। कब का ख़त्म हो गया!' मन्नान ने घिघिया कर एक और पासा फेंका।

'तो आप को पाकिस्तान भेजा भी नहीं जा रहा!' अफसर बोला, 'आप को, आपके परिवार को, आप के ही वतन बांगलादेश भेजा जा रहा है।'

'क्या कहा ?' मन्नान लगभग रोने लगे, 'बांगलादेश ?'

'जी!' अफ़सर बोला, 'जितनी जल्द पॉसिबिल हो आप यह देश छोड़ दीजिए!'

'पर यह तो मेरा ही देश है!' मन्नान रोते बिलखते बोले। लंबे चौड़े मन्ना ने दौड़ कर अफ़सर के पांव पकड़ लिए और बोले, 'साहब आप हम सबको यहां फांसी लगवा दीजिए पर हमें बांगलादेश मत भेजिए!' वह बिलबिलाए, 'वहां तो हम लोग कुत्तों की मौत मारे जाएंगे!'

'क्यों ?' अफ़सर हैरान हो गया।

'क्योंकि हम बंगाली मुसलमान नहीं, बिहारी मुसलमान हैं ?' मन्नान अफ़सर के पैर पकड़ कर बोले, 'सर, कुछ भी कर दीजिए पर कुत्ते की मौत मरने के लिए हमें बांगलादेश मत भेजिए!' वह बोले, 'वहां सब हमें भून कर खा जाएंगे। पिछली ही बार किसी तरह जान बचा कर भाग कर आए थे।'

'आर्डर हम कैसे बदल देंगे ?' अफ़सर फिर धीरे से बोला, 'गृह मंत्रालय का आर्डर! आप पढ़े लिखे आदमी हैं, समझ सकते हैं। रोने गिड़गिड़ाने से कुछ नहीं होने वाला। क्योंकि चीज़ें न तो आप के हाथ में हैं, न ही मेरे हाथ में।' कह कर अफ़सर उठ खड़ा हुआ। जाते-जाते बोला, 'आज ही आप को यह शहर छोड़ देना है। भले ही आधी रात तक! आप जब जाना चाहें। हमारी फ़ोर्स आप के साथ जाएगी। बार्डर तक। बांगलादेश के अधिकारियों के सिपुर्द कर के ही आएगी।' चलते-चलते वह मुड़ा और बोला, 'तब तक आप अपने घर से ज़रूरी सामान, कपड़े लत्ते, पैसे वग़ैरह किसी को भेज कर मंगवा लें। जिस भी किसी से मेल मुलाक़ात करनी हो, कर करा लें।' वह बोला, 'मानवता के नाम पर बस इतनी ही मदद हम आपकी कर सकते हैं।'

'दो एक दिन भी नहीं टल सकता?' मन्नान स्थितियों को समझते हुए बोले।

'बिल्कुल नहीं।' अफ़सर बोला, 'क्योंकि आप के सपरिवार अरेस्ट की ख़बर दिल्ली टेलेक्स में भेज दी गई है।'

'ओफ़्फ़!' कह कर मन्नान अफ़सर के पीछे-पीछे कमरे से बाहर आ गए।

मन्नान पुलिस आफ़िस के बरामदे में आ कर बैठ गए। मन्नान से मिलने आने वाले धीरे-धीरे बढ़ते जा रहे थे। पहले वाली स्थिति अब नहीं रही थी। पहले जब वह नए-नए बने बांगलादेश से भाग कर यहां आए थे तो शहर के क्या हिंदू, क्या मुसलमान बात करने तक को तैयार नहीं थे। पर अब सूरत बदल गई थी।

मन्नान को पाकिस्तानी करार दे कर पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया है यह ख़बर पूरे शहर में आग की तरह फैल गई। जो जहां था, मन्नान से मिलने भागा। कोई उनके घर गया तो कोई उन के दफ़्तर! फिर पता करते-कराते सबके सब पुलिस आफ़िस आते गए। शुरू-शुरू में मर्द ही आए पर बाद में सुबकती-रोती औरतें भी आने लगीं। मन्नान की बेग़म के कालेज की टीचरें, प्रिंसिपल यहां तक कि स्टूडेंट्स तक आ गई थीं। मुहल्ले की औरतें, रिश्तेदारों की औरतें, दोस्तों की औरतें भी आई थीं। कुछ ही समय में पुलिस आफ़िस दाढ़ी वाले मर्दों और बुर्के वाली औरतों से ठसाठस भर गया। हर कोई मन्नान को तसल्ली दे रहा था। भरोसा दिला रहा था, 'घबराए नहीं सब दुरुस्त हो जाएगा। अल्ला मौला पर यक़ीन कीजिए!' हर कोई अपनी औक़ात भर दौड़ धूप भी कर रहा था। भीड़ अब पुलिस आफ़िस से बाहर की सड़क पर भी पसर रही थी। लगता था जैसे शहर के सारे मुसलमान पुलिस आफ़िस आ गए हों। मुसलमान ही क्यों धीरे-धीरे मन्नान के हिंदू, परिचितों की भी भीड़ आ रही थी। पर हिंदू फिर भी मुसलमानों से कम थे। मन्नान के दफ़्तर के लोग भी आगे पीछे लगे थे।

मुहम्मद शफ़ी की बेग़म अंजू भी आ गई थीं, इधर-उधर पुलिस अफ़सरों से बात भी वह कर रही थीं। अपने हुस्न का सागर छलकाती हुई, लोगों को भरमाती हुई। पर बात नहीं बन रही थी। तभी किसी मौलवी ने मन्नान से ज़ार ज़ोर से पूछा ताकि अंजू बेग़म भी सुन लें, 'अरे मन्नान, ये शफ़ी कहां हैं, दिखाई नहीं दे रहे ? कहो कि अपनी पालिटिकल चाभी घुमाएं दिल्ली में!'

'शफ़ी साहब हैं कहां यहां ?' मन्नान थोड़ा अदब से बोले, 'वे तो दिल्ली में हैं।'

'तो उनको दिल्ली ख़बर करो!'

'कोशिश बहुत की।' अंजू बेग़म घाव पर शहद घोलती हुई बोलीं, 'पर वह होटल से निकल चुके हैं। दो चार जगह और ट्राई किया ट्रेस नहीं हो रहे।' वह बोलीं, 'होटल में मैसेज छोड़ दिया है कि आते ही घर में फ़ोन करें।'

'घर पे फ़ोन सुनेगा कौन ? आप तो यहीं हैं।' मौलवी साहब ने फिर सवाल फेंका।

'नहीं मेरी डॉटर है। सर्वेंट भी है!' अंजू बेग़म सफाई देती हुई एक तरफ निकलती हुई बोली, 'अभी मैं फिर फ़ोन करके आती हूं।'

'ओह!' मौलवी ने दाढ़ी पर हाथ फेरा, माथा सहलाया। बोले, 'ख़ुदा रहम करे तुझ पर मन्नान, लेकिन मानो ना मानो यह आग फिर मियां शफ़ी की ही लगाई हुई है!'

'अब क्या बताएं मौलवी साहब!' रुआंसे होते हुए मन्नान ने अपना सिर मौलवी के कंधे पर रख दिया और सिसक-सिसक कर रोने लगे। रोते - रोते कहने लगे, 'मैंने तो उनकी खातिरदारी में कोई कसर छोड़ी नहीं। ज़िंदगी उनके नाम लिख दी।' रुमाल से आंखें पोंछते हुए मन्नान बोले, 'फिर भी उन्होंने ऐसा किया तो क्यों कर किया ? समझ में नहीं आता!' मन्नान बोले, 'चाहता तो कोई और कारोबार कर सकता था, यूनिवर्सिटी या किसी और डिग्री कालेज में पढ़ा सकता था, तमाम और काम थे। पर मैंने ऐसा कुछ भी नहीं किया। यह सोच कर कि यह ज़िंदगी तो शफ़ी साहब के लिए ही जिऊंगा। चाहे जो हो जाए।' कह कर मन्नान फिर रोने लग गए।

'मत रोओ मन्नान! ख़ुदा पर यकीन करो।' मौलवी साहब बोले।

'पर शफ़ी ने ऐसा किया क्यों ?' एक जनाब ने पूछा मन्नान से।

'उन को किसी ने समझा दिया था कि मैं अब अपना कारोबार शुरू करने जा रहा हूं।' मन्नान बोले, 'उन को लगा कि उन के प्रेस का मैं पटरा बिठा दूंगा और उन्हीं के लोगों को तोड़ कर अपने यहां उठा ले जाऊंगा। जैसा कि उन्होंने ख़ुद बाज़वक़्त नेता जी के साथ किया था।'

'क्या सचमुच ऐसा कर रहे थे आप?'

'कुछ नहीं इस हिंदू औरत ने शफ़ी की ज़िंदगी नरक कर दी।' एक दूसरे बुज़ुर्ग मौलाना बीच में बात काटते हुए बोले, 'इसी की वजह से शफ़ी चुनाव हारा, नहीं मिनिस्टर हुआ होता। इसी ने शफ़ी को मुसलमानों से काटा। साला अच्छा ख़ासा मुसलमान था शफ़ी! हिंदू हो गया।' वह बोले, 'अब तो साहब शफ़ी सिर्फ नाम का ही मुसलमान रह गया है और ख़तने से! बाक़ी तो वह अब हिंदू ही है।' वह बोलते जा रहे थे, 'होली खेलता है, दीवाली के दीए जलाता है खुल्लमखुल्ला! क्या पता घर में बैठ कर गीता, रामायण भी पढ़ता हो इस छिनाल के कहे पर।'

'क्या यह सब बक रहे हो!' मौलवी साहब बोले, 'यहां कुछ हिंदू लोग भी आए हैं।'

'तो आएं न! कौन मना करता है।' मौलवी बोले, 'यह तो मन्नान भाई का व्यवहार है जो सब लोग इन की मिज़ाज़पुर्सी में आए हैं। शफ़ी के नाते तो हम लोग आए भी नहीं हैं। न ही इस छिनाल हिंदू औरत के नाते आए हैं।'

'अब चुप भी रहिए जनाब!' एक दूसरे मुस्लिम बोले।

'क्यों चुप रहें।' मौलाना बोले, 'ज़रूर इस हिंदू छिनाल के भड़काने में शफ़ी आ गया होगा तभी शफ़ी ने मन्नान के ख़िलाफ यह किया।'

'नहीं ऐसी बात नहीं है।' मन्नान से चुप नहीं रहा गया। बोले, 'अंजू जी सचमुच बड़ी नेक औरत हैं। उन के बारे में और तो बहुत कुछ कहा जा सकता है, लेकिन हिंदू-मुस्लिम वाली बात करना सरासर गुनाह होगा।' मन्नान इस तकलीफ की घड़ी में भी बोले, 'हिंदू-मुस्लिम के खाने में अंजू जी नहीं जीतीं। वह सचमुच इस सबसे ऊपर हैं। बड़ी नेक औरत हैं!'

'तो यह.... ?'

'उलटे शफ़ी साहब ने इनकी ज़िंदगी नरक कर दी।' मन्नान बोले, 'शफ़ी साहब की बेटी की उम्र है इनकी, पर बहकावे में उनकी बेग़म बन गईं। तब जब कि शफ़ी साहब के पहले इन की मां से तालुक्क़ात थे!'

'क्या ?' मौलवी साहब ने माथे पर हाथ फेरा। बोले, 'तौबा, तौबा! फिर तो बड़ा नीच है शफ़ी!'

'आप लोग नहीं जानते शफ़ी साहब के बारे में अभी पूरी तरह!' मन्नान बोले, 'अंजू बेग़म की तो ज़िंदगी वह नरक कर ही चुके हैं, अपनी तरक्क़ी के लिए इन्हें सीढ़ी बनाने में भी वह ज़रा भी गुरेज़ नहीं करते।'

'क्या ?'

'एक से एक मिनिस्टर, नेता, अफ़सर आख़िर क्यों शफ़ी साहब के यहां गिरे रहते हैं।'

'तो यह कारोबार भी करता है शफ़ी?'

'अब तो यहां अंजू बेग़म और दिल्ली में अंजू बेग़म की छोटी बहन सोनम!' मन्नान बोले, 'अब सोनम से शफ़ी साहब ने शादी तो नहीं की है बाक़ायदा पर वह भी उन की लगभग दूसरी बेग़म हैं और दूसरी सीढ़ी!'

'छीः छीः!'

'आप लोग नहीं जानते शफ़ी साहब को। नहीं जानते कि वह भीतर से और क्या-क्या हैं!' मन्नान बोले, 'बहुत-से राज़ हैं, इस सीने में दफ़न हैं, मत खुलवाइए!'

'यह सब जानते हुए भी आप शफ़ी के साथ बने रहे ?'

'बहुत एहसान हैं भई उनके मुझ पर।' मन्नान बोले, 'कहा न ज़िंदगी उन के नाम लिख दी। अरे, आज पुलिस आफ़िस मेरे लिए भरा पड़ा है। पर एक दिन वह भी था जब कोई मुझ से बात करना नहीं गंवारा करता था, तब शफ़ी साहब ने मेरा साथ दिया था, मुझे शरण दी और मेरी, मेरे बीवी बच्चों की हिफ़ाज़त

की! कैसे भूल सकता हूं उनका वह एहसान!' मन्नान बोले, 'पर आज का दिन और यह फ़ज़ीहत, अल्ला ने ज़िंदगी रखी तो यह भी नहीं भूलूंगा।' मन्नान बोलते-बोलते थोड़ा नहीं पूरे कसैले हो गए, 'नहीं भूलूंगा शफ़ी साहब!' कहते-कहते वह और कठोर हो गए। वह रुके और बोले, 'क्या पता था कि राम के वेश में रावण मिला है मुझे!'

'पर इतना यक़ीन से कैसे कह सकते हैं मन्नान भाई कि यह सारी ख़ुराफात शफ़ी साहब की ही है ?' मन्नान और शफ़ी के एक कामन दोस्त रहमत ने पूछा।

'रहमत भाई, एक समय यूनिवर्सिटी टाप की थी, गोल्ड मेडेल पाया था तो बेवजह नहीं।' मन्नान बोले, 'ठीक है क़िस्मत में ठोकर पर ठोकर लिखी है, लेकिन पूर्वी पाकिस्तान के डिग्री कालेज में मैं तब के समय प्रिंसिपल था, यह बात थोड़े से और लोग भी जानते हैं। पर उस डिग्री कालेज का नाम, एप्वाइंटमेंट का समय वग़ैरह यहां इस शहर में सिर्फ़ मैं, मेरी बेग़म और शफ़ी साहब तीन ही जानते हैं। मन्नान बोले, 'मैं बताने गया नहीं, बेग़म मेरी गई नहीं, भारत सरकार को यह बताने।' तो गया कौन ? ज़ाहिर है तीसरा आदमी गया यह बताने। और तीसरा आदमी है शफ़ी ? यह पहली बार था कि जब बातचीत में मन्नान शफ़ी साहब की जगह सिर्फ़ शफ़ी बोल रहे थे। वह बोले, 'अभी जिस अफ़सर ने कमरे में बुला कर मुझ से बात की उस ने कुछ कागज़ मेरे ख़िलाफ दिखाए जिस में सब से पुख्ता काग़ज़ सिर्फ़ डिग्री कालेज की मेरी प्रिंसिपली का था। एप्वाइंटमेंट की डेट, कालेज का नाम वग़ैरह फुल डिटेल्स में थीं।'

'हो सकता है आप ने जो बहुत बरस पहले आर्टिकिल लिखा था, जो शफ़ी साहब के अख़बार में फ्रंट पेज पर छपा था, उस में यह डिटेल आप ने ही लिखी हो और पुलिस ने उस आर्टिकिल से ही लिया हो यह डिटेल!' मन्नान के एक दूसरे दोस्त ने सवाल रखा।

'लिखा तो था यह डिटेल मैंने अपने उस आर्टिकिल 'मैं कैसे नहीं हूं हिंदुस्तानी' में। पर यह डिटेल शफ़ी ने ही मुझे बता कर काट दिया था, छपने नहीं दिया था। कहा था कि कोई बाद में इस का मिसयूज़ कर सकता है। तो मैंने तो तब वकील तक को यह डिटेल नहीं दी थी।'

'कभी पुलिस से बातचीत में दे दिया हो ?'

'भूल कर भी नहीं दिया। सपने में भी नहीं।' मन्नान बोले, 'बेग़म तक को ताक़ीद कर दी थी। बल्कि बेग़म को तो अब सिर्फ़ कालेज का नाम भर याद है। एप्वाइंटमेंट की तारीख़ वह भी अब भूल गई हैं।' मन्नान ने सांस छोड़ कर कहा, 'पर जनाब शफ़ी नहीं भूले वह तारीख़!' उन्होंने जोड़ा, 'नोट किए रहे!'

'छोड़िए भी, शफ़ी कोई अल्ला मियां नहीं हैं मन्नान भाई, जो आप की तकदीर लिखेंगे।' रहमत बोले, 'तकदीर लिखने वाला तो वह परवरदिगार है और आप ने कभी किसी का बुरा नहीं किया है, यह भी वह देख रहा है तो जो भी होगा, जल्दी ही बेहतर होगा। बस अल्ला और उस के रसूल पर यक़ीन रखिए!'

'हां, रहमत भाई अब तो उस ऊपर वाले ही के रहमोकरम पर है सब कुछ!' मन्नान थक कर बारामदे की बेंच पर बैठ गए। कहने लगे, 'तिनका-तिनका जोड़ कर दुबारा गृहस्थी बनाई थी अब फिर लुट गई। समझ में नहीं आता कितनी बार यह गृहस्थी उजड़ेगी ऐसे और इस तरह!' कह कर वह रहमत के कंधे पर सिर रख कर रोने लगे। बोले, 'यह बार-बार उजड़ना तोड़ देता है रहमत भाई! बच्चे अभी पढ़ रहे थे। इनकी तो पढ़ाई भी गई।'

अब तक यह लगभग तय हो गया था कि मन्नान और उनके परिवार को बाई ट्रेन वाया, कलकत्ता बांगलादेश भेजा जाएगा। दिन के तीन बज गए थे। दो घंटे बाद ही कलकत्ते की एक ट्रेन थी, लेकिन मन्नान के रिश्तेदारों ने अफ़सरों के हाथ पैर जोड़ कर रात की ट्रेन के लिए मना लिया था जो शायद रात ग्यारह बजे के आस पास जाती थी।

जो भी ही मन्नान के पास आने वालों का सिलसिला बढ़ता ही जा रहा था। ऐसे गोया मुसलमानों की कोई रैली हो, कोई जलसा हो। अब तक कुछ लोकल मुस्लिम लीडर भी आने लगे थे मन्नान से मिलने की ख़ातिर। मन्नान का मनोबल बढ़ाने की ख़ातिर।

धीरे-धीरे शाम गहराने लगी थी।

अब अड़ोसी पड़ोसी ज़िलों से भी लोग आने लगे थे। लोगों से मिल-मिल कर लगातार रोते-रोते मन्नान की आँखें सूज गई थीं। ऐसे जैसे किसी ने उन की आंखों पर ही मारा हो। लोग आ कर पूछते भी कि, 'क्या पुलिस वालों ने बदसुलूकी भी की है ?'

'नहीं, नहीं बिल्कुल नहीं, वे लोग तो फुल्ली कोऑपरेट कर रहे हैं।' वह फिर जैसे जोड़ते हुए बुदबुदाते, 'बदसुलूकी किसी और ने की है!'

'किस ने की है ?' लोग लगभग तल्ख होते हुए पूछते। ऐसे जैसे वह मिले तो उसे जूता मार देंगे। गोली मार देंगे। लेकिन इस तल्ख़ी पर मन्नान चुप ही रहते।

बिलकुल चुप।

लेकिन अगल बग़ल बैठा हुआ, खौलता हुआ कोई बोल ही पड़ता, 'अरे, वही शफ़ी!' अपने मुहम्मद शफ़ी!'

'जैसे कोई पंछी शिकारी पर विश्वास कर ले! वैसे ही मन्नान भाई ने शफ़ी पर यक़ीन कर लिया!' रहमत बैठे-बैठे बोल पड़े।

अब तक मन्नान को बांगलादेश तक छोड़ने जाने वाली पुलिस पार्टी तैयार हो गई थी और उनके लोकल काग़ज़ात भी। मन्नान ने भी घर से ज़रूरी चीज़ें, कपड़े, कागज़ात, बैंक से चेक काट कर पैसे भी मंगवा लिए थे। डोलची, अटैची, बक्से, बिस्तर वग़ैरह भी होलडाल में बांध दिए गए थे। ढेर सारा अल्लम-गल्लम सामान भी था। तोता भी पिंजड़े सहित आ गया था।

लेकिन मन्नान ने ढेर सारा सामान वापस करवा दिया। यह कह कर कि 'जान ले कर जाऊं-आऊं यहीं बहुत है।'

'वहां भी इस सब की ज़रूरत पड़ेगी।' उनके एक पड़ोसी ने हमदर्दी के साथ कहा।

'तो क्या चाहते हैं मियां कि वहीं जा के बस के जान दे दूं ?' उन्होंने थोड़ी मुस्कुराहट, थोड़ी खीझ, थोड़ा गुस्सा घोल कर धीरे से पूछा, 'क्या चाहते हैं वापस न आऊं ?'

'अल्ला करे आप जाएं ही नहीं।' कह कर पड़ोसी ने मन्नान को बाहों में भर लिया और रोने लगे।

'जाना तो अभी पड़ेगा भई!' मन्नान बोले, 'पर आप लोग मेरे घर का ख्याल रखिएगा।' वह रुके और बोले, 'हां, मेरी बकरियां भी आप ही संभाल लीजिएगा। चाहिएगा तो मेरे बरामदे में ही बांधिएगा, लेकिन उन को रखिएगा प्यार से। फिर उन्होंने तोते का पिंजड़ा उठा कर उन्हें थमाते हुए बोले, 'और ये मिट्ठू मियां भी आप की ही सुपुर्दगी में रहेंगे।' कहते हुए मन्नान की हिचकियां बंध गईं। रोने लगे। बोले, 'क्या पता इन्हीं के प्यार का नसीब मुझे वापस, मेरे वतन लौटा लाये। सही सलामत। सो मियां इन मिट्ठू मियां को बड़े प्यार और बड़ी हिफ़ाज़त से रखिएगा। संभाल कर। दिल की तरह।' फिर वह पिंजड़ा उठा कर मिट्ठू मियां की चोंच से मुंह मिला कर, 'मिट्ठू-मिट्ठू गुहरा-गुहरा बतियाने लगा। बतियाते-बतियाते रोने लगे। उन के दिल की तपन मिट्ठू से भी न देखी गई, टूक्-टूक् कर के मिट्ठू भी रोने लगा। रोते-रोते कहने लगा, 'मन्ना जल्दी आना, जल्दी आना!' यह कोई नई बात नहीं थी मिट्ठू मियां के लिए। न नया संवाद। वह तो जब-जब मन्नान घर से निकलते तो हर बार मिट्ठू मियां मन्नान से यह ज़रूर कहते, 'मन्ना जल्दी आना, जल्दी आना!'

तो आज भी मन्नान की तैयारी देख मिट्ठू मियां बोलने लगे, 'मन्ना जल्दी आना, जल्दी आना!' और मन्नान को रोते देख मिट्ठू मियां भी रोने लगे।

मिट्ठू मियां के इस संवाद के साथ सिर्फ़ एक ही नई बात थी और बिल्कुल ही नई। वह यह कि 'मन्ना जल्दी आना, जल्दी आना' संवाद के साथ मिट्ठू मियां पहली बार रोने लगे थे, 'टूक्-टूक्!' तो मिट्ठू मियां करते भी तो क्या करते। मन्ना भी उन के सामने पहली ही बार रो रहे थे और फूट-फूट कर पिंजड़े को छाती से सटाए हुए रो रहे थे।

रो रहे थे मन्नान मियां और मिट्ठू मियां। एक साथ। दिल से दिल मिला कर। ऐसे कि कोई विमल रॉय, कोई गुरुदत्त, कोई असित सेन, कोई गुलज़ार, कोई श्याम बेनेगल, कोई शेखर कपूर, कोई कविता चौधरी, कोई महेश भट्ट अपनी फ़िल्म का एक फ्रेम बना के, इस संवेदना, इस आग, इस आवेग, और संवेग को कैमरे में दर्ज कर कोमलता, मानवता और दिल की एक संस्पर्श भरी नदी बहा दे, मन को गहरे छू लेने वाली, एक आकाश गंगा निकाल दे!

लेकिन कहां ?

यहां तो पुलिस का एक दारोगा आहिस्ता ही से सही मन्नान से कह रहा था, 'स्टेशन चला जाए नहीं तो यह ट्रेन भी निकल जाएगी!

'हां, चलते हैं।' मन्नान बोले, 'बस दस मिनट!' कह कर वह अपनी बेग़म की ओर बढ़े जो कि बरामदे में एक दूसरे कोने में औरतों से घिरी अचेत पड़ी थीं। डॉक्टर दवा दे गए थे, साथ ही नींद का इंजेक्शन भी ताकि सदमे से मानसिक संतुलन भी न बिगड़ जाए। कुछ इंजेक्शन और मंगा कर रख लिए गए थे। कुछ टेबलेट्स भी। ताकि रास्ते में काम आए। बेटी और बहू तीमारदारी में लगे थे। मन्नान पहुंचे वहां तो कई बुर्क़े वालियां बग़ल हो गईं। वहां वह बिछी चटाई पर बैठे। धीरे से बेग़म का माथा सहलाया और बुदबुदाए, 'जाने अल्ला को क्या मंजूर है ?' फिर बेटी की ओर देखा। आंखों-आंखों में ही पूछा कि सारी तैयारी हो गई है ? बेटी ने भी अपने बच्चे को संभालते हुए बिना बोले ही आंखों से ही हामी भर दी। तो वह बहू की ओर मुड़े-बोले, 'बेटा क्या बताएं हमारे साथ तुम्हें भी पिसना पड़ रहा है!'

'कोई बात नहीं अब्बू!' कह कर वह खुद भी रोने लगी। दरअसल हुआ यह था कि मन्नान को सपरिवार बांगलादेश जाने का हुक्म आया था। उन के बड़े बेटे की पैदाइश तो पूर्वी पाकिस्तान यानी बांगलादेश की ही थी सो उसे तो वहां का पक्का बाशिंदा करार दे दिया गया था। पर उसकी शादी यहां इसी शहर में हुई थी। सो अब बेटे को बांगलादेश जाने का आदेश था पर बेटे की बीवी के लिए कोई आदेश नहीं था। पर बीवी का कहना था कि वह भी अपने शौहर, बच्चे ही के साथ रहेगी चाहे बांगलादेश रहना पड़े, चाहे हिंदुस्तान!

समस्या मन्नान की बेटी के साथ भी थी। हालांकि वह यहीं हिंदुस्तान में पैदा हुई थी और शादी भी हिंदुस्तान में ही हुई थी, बेटी का बच्चा भी यहीं पैदा हुआ था तो भी बेटी को भी बांगलादेश जाने का फ़रमान आया था, बेटी के पति और बच्चे के लिए कोई आदेश नहीं था। इसी तरह बाक़ी दो बेटे भी यहां हिंदुस्तान में, इसी शहर में पैदा हुए थे। तो भी चूंकि 'पाकिस्तानी' मन्नान के बेटे थे सो उन्हें भी बांगलादेश जाना ही जाना था।

सब कुछ स्पष्ट था पर बेटे की बीवी, बच्चे और बेटी के शौहर बच्चे का क्या हो? यह स्पष्ट नहीं था। बेटे की बीवी तो अपने शौहर के साथ जौहर के लिए भी तैयार थी पर बेटी का शौहर ग़म में तो शरीक़ था पर बीवी के लिए 'जौहर' के रंग में नहीं था। फिर भी वह मन्नान के साथ कलकत्ते तक के सफ़र के लिए तैयार था। और यही क्यों कलकत्ते तक मन्नान का सफ़र तय कराने के लिए कोई दस बारह, दोस्त नातेदार, रिश्तेदार भी घर से तैयार हो कर आ गए थे।

बांगलादेश जा कर कैसे वापसी हो इस पर गुपचुप 'रणनीति' मन्नान ने तैयार कर ली थी और इस काम में सारा रिस्क ले कर उनके कुछ दोस्त और रिश्तेदार भी शुमार थे। जिनमें सब से

आगे रहमत मियां और बेटे की ससुराल वाले भी थे। रहमत मियां पर मन्नान हालांकि पूरा यक़ीन से नहीं थे क्योंकि वह शफ़ी के भी कामन फ्रेंड थे। सो वह सारे 'गणित' से रहमत को अलग रखे थे। फिर भी रहमत का जोश-ख़रोश चूंकि मन्नान के पक्ष में था सो ऊपरी-ऊपरी बातों का राज़दार उन्हें भी बना लिया था मन्नान ने। मन्नान के दो तीन हिंदू दोस्त भी उन के भीतरी 'गणित' के राज़दार थे। इन में एक वकील था जिस ने एक साथ कई वकालतनामों, गड्डी-भर वाटर मार्क पर मन्नान, मन्नान की बेग़म और बच्चों के दस्तख़त ले लिए थे कि जाने कब कहां क्या ज़रूरत पड़ जाए। जल्दी-जल्दी में एक पावर आफ़ एटार्नी भी मन्नान ने बनवा ली ताकि उन का मुक़दमा उन की अनुपस्थिति में भी ठीक से लड़ा जा सके और जो ज़रूरत पड़े तो खर्चे के लिए उन का मकान वग़ैरह भी बेचा जा सके।

सब जगह दस्तख़त कर, सब से यह तय कर कि किसको कब क्या करना है वग़ैरह-वग़ैरह निपटा कर मन्नान और उन की फ़ेमिली पुलिस जीप में बैठ कर स्टेशन के लिए चल पड़े। मिट्ठू मियां भी पिंजड़े के समेत उन के साथ थे। डरे-डरे, सहमे-सहमे, बुझे-बुझे और बिन बोले।

लगभग सभी निःशब्द थे उस पुलिस जीप में। पुलिस वाले भी।

मन्नान स्टेशन पर बाद में पहुंचे। उन से मिलने, उन्हें बिदा देने वाले लोग पहले। बल्कि बहुत पहले।

पूरा स्टेशन दाढ़ी वालों और बुर्के वालियों से ठसाठस भरा पड़ा था। हर कोई मन्नान और उन की फ़ेमिली से मिलने को बेताब! मन्नान के लिए दुआ करता हुआ। कोई खाना लिए था, कोई पैसा, कोई कंबल, कोई सब कुछ। कुछ हिंदू दोस्त और उन की बीवियां भी खाना, कंबल और पैसे लिए प्लेटफ़ार्म पर जमे पड़े थे। दो हिंदू दोस्त तो मन्नान के साथ कलकत्ते तक भी जा रहे थे। इनमें से एक श्याम सुंदर तो प्लेटफ़ार्म पर एक जगह लोगों से घिरा खड़ा कहने लगा, 'बांगलादेश तक चलूंगा। देखूं भला क्या कर लेते हैं वहां के फ़सादी मुसलमान।' वह बोला, 'बताऊंगा वहां कि देखो हिंदुस्तान में हम हिंदू भी मुसलमन भाइयों के लिए जान लड़ाने को तैयार हैं और हमेशा तैयार रहते हैं। इसलिए कि यह मुसलमान भाई बंटवारे के बावजूद हम पर यक़ीन कर के अपने देश में रह गए। तो हमारा भी फर्ज़ बनता है कि इन के यक़ीन को हम बनाए रखें। चाहते तो ये पाकिस्तान जा सकते थे पर नहीं गए क्योंकि इन को हम पर यक़ीन था। तो इन के यक़ीन को हम कैसे भून कर खा जाएं।' वह बोला, 'वहां लोगों को बताएंगे कि हम हिंदू-मुस्लिम कुछ जिन्ना जैसे जल्लादी सो काल्ड राजनीतिज्ञों के नाते दिलों में दूरी नहीं बनाते। सुख-दुख बांटते हैं। साथ-साथ रहते हैं, साथ-साथ मरते हैं।' श्याम सुंदर थोड़ा और भावुक हुआ और बोला, 'मैं तो कहूंगा कि मन्नान को मारना है तो पहले मुझे मारो, फिर मन्नान को मारना।' वह बोला, 'बताऊंगा कि हम उस गांधी के देश के हैं जो कभी तुम्हारा भी था। इंसानियत के लिए लड़ना नहीं, मरना जानते हैं। प्यार और भाईचारा जानते हैं। चीज़ों को लड़ कर नहीं बातचीत कर समझदारी से तय करना जानते हैं।' वह बोला, 'और याद दिलाऊंगा कि तुम्हारे यहां भी एक मुज़ीबुर्रहमान हुआ था। बेहद डेमोक्रेटिक और बेहद लिबरल। वह भी तुम्हारा गांधी था। और कि तुम तो आज़ाद हुए हो पाकिस्तानी अत्याचार और उस की गुलामी से तो वह भी भारत देश के लोगों की मदद और दुआ से! और फिर भी तुम आज बिहारी मुसलमान और बंगाली मुसलमान की दीवार खड़ी कर फ़साद करते हो! मुज़ीबुर्रहमान की आत्मा पर दाग़ लगाते हो!'

श्याम सुंदर का भाषण चालू था।

इसी प्लेटफ़ार्म पर हिंदुओं की एक और टोली दिनेश अग्रवाल के साथ जुटी पड़ी थी। दिनेश भी मन्नान के साथ कलकत्ते तक जा रहे थे। उन के मुहल्ले के कुछ लड़के उन्हें स्टेशन तक छोड़ने आए थे। एक लड़के ने दिनेश से पूछा, 'आखिर मन्नान साहब बांगलादेश जाने से इतना डर क्यों रहे हैं ?'

'एक तो वतन छूट रहा है दूसरे उन्हें वहां के मुसलमानों से ख़तरा है कि वे उन्हें मार डालेंगे।' कि तभी किसी नौजवान जो हिंदू ही था, ने पूछा, 'पर ये मुसलमान-मुसलमान आपस में लड़ते क्यों हैं ?'

'बेवकूफ हैं।' दिनेश सर्रे से बोला।

'नहीं कुछ तो वज़ह होगी।' नौजवान ने जिज्ञासा की आँख और बढ़ाई।

'बिहारी मुसलमान और बंगाली मुसलमान का कुछ चक्कर है।' दिनेश बात को टालता हुआ बोला।

'फिर भी कोई तो फैक्टर होगा ही।' नौजवान जैसे अड़ा रहा।

'देखो भाई सच बताऊँ ?' दिनेश बोला, 'मैं तो अख़बारों में पढ़ता हूं कि शिया-सुन्नी में दंगा हो गया। तो मैं तो ये भी नहीं जानता कि ये शिया सुन्नी भी आपस में क्यों लड़ते हैं ?'

'कुछ तो वज़ह होगी ही!' नौजवान ने सवाल जारी रखा।

'फिर एक सच बताऊं ?' दिनेश नौजवान से बोला, 'मैं यह भी नहीं समझ पाता कि यह हिंदू-मुसलमान भी क्यों लड़ते हैं ? क्यों दंगा-फ़साद करते हैं ?' वह बोला, 'चलो एक बार हिंदू-मुसलमान लड़ते हैं तो समझ में आता है कि दोनों के रीति-रिवाज़ अलग-अलग हैं। खाने, पहनावे में फ़रक़ है।' वह लगभग बिलबिलाते हुए बोला, 'कुछ टकराहट हो जाती होगी। लेकिन ये मुसलमान-मुसलमान क्यों लड़ते हैं यह तो मेरी समझ में बिलकुल नहीं आता!'

'क्यों ?' नौजवान ने फिर सवाल किया।

'भाई हम को तो सभी मुसलमान एक ही जैसे लगते हैं। सभी की दाढ़ी। सिर पे टोपी। बस किसी की दाढ़ी सफ़ेद, किसी की काली और औरतें तो सभी एक ही तरह के बुर्के वाली। बस

किसी का काला, किसी का नीला किसी का सफ़ेद। अब बुर्क़े के अंदर कौन है यह मुसलमान ही नहीं जान पाते तो हम हिंदू कैसे जानेंगे ?'

'मुसलमान क्यों नहीं जान पाते ?' एक दूसरे हिंदू नौजवान ने जिज्ञासा जताई।

'अगर जान पाते कि बुर्क़े में कौन है तो गुरुदत्त वाली फ़िल्म 'चौदवीं का चांद' क्यों बनती ?' दिनेश बोला, 'देखा नहीं उस फ़िल्म का पूरा का पूरा सस्पेंस ही बुर्क़े के भ्रम में बुना हुआ है। बस बुर्क़ा बदल जाता है तो होने वाली बीवी बदल जाती है।'

'पता नहीं चचा मैंने यह फ़िल्म नहीं देखी।'

'मैंने भी नहीं।' दूसरा नौजवान भी बोला।

'तो बेटा लोगों, मौक़ा निकाल कर देखो। बड़ी बढ़िया फ़िल्म है।' वह बोला, 'देखोगे तो बुर्क़े की नज़ाकत जान जाओगे।'

'चलिए बुर्क़े में तो हम लोग भी नहीं पहचान पाते हैं किसी को तो वह फ़िल्म है ही।'

'अच्छा बुर्क़ा वालियों को नहीं पहचान पाते हो तो क्या इन दाढ़ी वालों को पहचान पाते हो ?' दिनेश बोला, 'एक साथ सभी दाढ़ियां खड़ी कर दो। सब एक जैसी! बस काली सफ़ेद ही पहचानूं।' वह बोला, 'तो जब सब एक जैसे हैं तो ससुरे आपस में लड़ते क्यों हैं ?' कभी शिया-सुन्नी, कभी बिहारी-बंगाली। मेरी तो समझ में नहीं आता।' उसने जोड़ा, 'वह तो भला हो मन्नान भाई का कि उन के दाढ़ी नहीं है तो उन से दोस्ती हो गई और उन्हें पहचान भी लेता हूं।'

'देखिए, आप लोग कुछ नहीं जानते!' एक हिंदू बुजुर्ग बहस में शरीक़ होते हुए बोला, 'कोरे नादान हैं आप लोग और बातें भी बचकानी कर रहे हैं। कोरी बचकानी!'

'तो चचा आप ही हम लोगों की नादानी दूर कर दीजिए!' दिनेश घड़ी देखते हुए बोला, 'अभी ट्रेन के आने में भी देर है!'

'ऐसा है कि शिया-सुन्नी का झगड़ा तो इसलिए है कि मुसलमान होते हुए भी इन के बीच कुछ मज़हबी मतभेद हैं। जिस की चर्चा यहां करना अभी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां इस समय शिया-सुन्नी दोनों वर्गों के लोग मौजूद हैं। बात बेबात दूसरे क़िस्म का तनाव हो जाएगा।' बुजुर्गवार बोले, 'पर बिहारी और बंगाली मुसलमानों का झगड़ा धार्मिक नहीं आर्थिक है और सामाजिक भी!' वह बोले, 'भाषाई झगड़ा भी है। उर्दू और बांगला का झगड़ा।' झगड़ा धार्मिक नहीं आर्थिक है और सामाजिक भी!' वह बोले, 'भाषाई झगड़ा भी है। उर्दू और बांगला का झगड़ा।'

इस तरह प्लेटफ़ार्म पर जो जहां था, खड़ा-खड़ा कुछ न कुछ बतिया रहा था। भीड़ बढ़ती जा रही थी और ट्रेन अभी नहीं आई थी, बस आने ही वाली थी। बार-बार इस बारे में एनाउंसमेंट हो रहा था। हालां कि स्टेशन पर इस समय रेलवे की सारी व्यवस्था इस भीड़ के आगे लड़खड़ा गई थी। ख़ास कर इस प्लेटफ़ार्म पर तो बिल्कुल ही।

ठीक वैसे ही जैसे मन्नान की गृहस्थी की, मन्नान की ज़िंदगी की, मन्नान के दिल की व्यवस्था इस आफत के आगे ध्वस्त हो गई थी। मन्नान समझ नहीं पा रहे थे कि आगे कैसे क्या संभव होगा। इस आफत से निपटने के लिए कुछ दोस्तों के साथ मिल कर दो तीन तरह का 'गणित' भी भिड़ाया था, फिर भी अकल काम नहीं कर रही थी।

कुछ लोग बारी-बारी आ कर खाना, कंबल और पैसा भी दे जा रहे थे उन्हें। वह हर बार 'नहीं-नहीं, कोई ज़रूरत नहीं। क्यों तकलीफ कर रहे हैं।' जैसी बात भी कहते पर कोई मानने को तैयार ही नहीं था। अंततः खाने वाले टिफ़िन कैरियर, कंबल बहुत ज़्यादा हो गए तो उन्होंने हाथ जोड़ लिए। बोले, 'कितना खाऊंगा, कितना ओढ़ूंगा ? अब बस भी कीजिए।' वह बोले, 'चार छः कंबल और इतने ही टिफ़िन छोड़ सब आप लोग ले जाइए। नहीं, यह सब बुक कराना पड़ेगा। कहां ले जाऊंगा ?' पर दिक्कत यह थी कि कोई भी अपना दिया हुआ सामान वापस लेने को तैयार नहीं था। न कंबल, न टिफ़िन। सभी यह सोच कर लाए थे कि मन्नान के काम आएगा। अब यह तो कोई जानता नहीं था कि मन्नान की मदद की शहर में इस क़दर बाढ़ आ जाएगी!

इस मदद की बाढ़ में मुहम्मद शफ़ी की हिंदू बेग़म अंजू जी भी अपनी बेटी के साथ प्लेटफ़ार्म पर खड़ी थीं। उन की आंखों में आंसू थे और गला रुंधा हुआ। कंबल, पैसा और टिफ़िन वह भी लाई थीं। पांच हज़ार रुपये उन्होंने मन्नान के हाथ में ज़बरदस्ती थमा दिए। मन्नान के आफ़िस के कर्मचारी भी इसी तरह कुछ न कुछ पैसे अपनी-अपनी बिसात के हिसाब से किसी ने सौ, किसी ने दो सौ, किसी ने पांच सौ मन्नान को दिए। मन्नान के दोस्तों रिश्तेदारों का भी यही हाल था। कोई सौ, दो सौ, पांच सौ, हज़ार, दो हज़ार, पांच हज़ार, दस हज़ार जिस की जैसी व्यवस्था थी देता गया। यह कहते हुए कि, 'आप के काम आएगा।' और कि, 'इसे कर्ज़ नहीं दुआ समझिएगा।'

ट्रेन आ गई थी। मन्नान को सपरिवार पुलिस ने ट्रेन में बिठा दिया। कलकत्ता तक जाने वाले उन के दोस्त रिश्तेदार भी बैठ गए। यहां तक कि मिट्ठू मियां भी मय पिंजड़े के। अचानक पूरा प्लेटफ़ॉर्म सिसकियों-सुबकियों से भर गया। हर कोई रो रहा था। मिट्ठू मियां भी और अंजू जी भी। ट्रेन चलने को हुई तो अचानक मन्नान ने अपने उस पड़ोसी को हाथ से इशारा कर फिर से अपने पास बुलाया जिस की सुपुर्दगी में वह दोपहर पुलिस आफ़िस में मिट्ठू मियां को थमा रहे थे। वह पड़ोसी फ़ौरन मन्नान के पास भाग कर पहुंचे। बोले, 'हां मन्नान भाई!'

'कुछ नहीं!' मन्नान बिलखते हुए बोले, 'सोच रहा हूं मैं तो बेवतन हो ही रहा हूं मिट्ठू मियां को काहे बेवतन करूं! सो इन्हें आप अपनी हिफ़ाज़त में ले

लीजिए!' फिर उन्होंने पिंजड़ा उठाया, मिट्ठू मियां को कलेजे से लगाया। रोए और कलमा पढ़ा, 'ला इल्ललाह मुहम्मदुर्-सूलल्लाह !' और एक बार फिर मिट्ठू मियां की चोंच को पिंजड़े से मुंह सटा कर चूमा। बोले, 'ख़ुदा हाफ़िज मिट्ठू मियां !'

'ख़ुदा हाफ़िज!' मिट्ठू मियां भी तुतलाते हुए बोले। तब तक ट्रेन ज़रा-सी सरकी। तो फाटक पर खड़े-खड़े मन्नान ने मिट्ठू मियां को पड़ोसी के हवाले किया। अचानक मिट्ठू पंख फैला कर कस-कस कर फड़फड़ाए। गोया मन्नान की ट्रेन के साथ उड़ पड़ेंगे! पर पिंजरे की हद ने उन्हें रोक लिया। उड़ नहीं पाए मिट्ठू मियां, पर चिल्लाए, 'मन्ना जल्दी आना, जल्दी आना!'

जाने ट्रेन की खट-खट, प्लेटफ़ार्म पर लोगों की सिसकियों-सुबकियों और अपने रुंध आए गले के बावजूद मन्नान सुन पा रहे थे कि नहीं, पर पिंजड़े में फड़फड़ाते मिट्ठू मियां आज लगातार चिल्ला रहे थे, मीठी नहीं कर्कश आवाज में, 'मन्ना जल्दी आना, जल्दी आना!' और लगातार चिल्ला रहे थे। लोग हाथ हिला रहे थे, कोई-कोई रुमाल भी। ट्रेन जा रही थी, चली जा रही थी, स्पीड बढ़ाती हुई।

ट्रेन चली गई।

लोग रह गए, लोगों की भीड़ रह गई सुबकती और सिसकती हुई। खामोश भीड़। ऐसे जैसे पूरे प्लेटफ़ार्म पर मातम की चादर बिछी हो।

लोग प्लेटफ़ार्म पर बिलख रहे थे तो मन्नान और उन के परिवारीजन ट्रेन में मन्नान के दोस्त मन्नान और उनके बेटों को चुप करा रहे थे जब कि पुलिस टीम की दो महिला कांस्टेबिल मन्नान की बेटी, बहू को चुप करा रही थीं। लेकिन किसी की रुलाई रुक नहीं रही थी। यहां तक कि चुप कराते-कराते चुप कराने वाले भी रोने लगे। दोनों महिला सिपाही भी रह-रह कर रो पड़तीं। दूसरी तरफ मन्नान की बेग़म इस सब से बेख़बर अचेत पड़ी थीं। नींद के इंजेक्शन में नीम बेहोश!

ख़ैर, पुलिस टीम मन्नान और उनके परिवार को ले कर कलकत्ता पहुंची। फिर वहां से बांग्लादेश बार्डर

'ख़ुदा हाफ़िज!' मिट्ठू मियां भी तुतलाते हुए बोले। तब तक ट्रेन ज़रा-सी सरकी। तो फाटक पर खड़े-खड़े मन्नान ने मिट्ठू मियां को पड़ोसी के हवाले किया। अचानक मिट्ठू पंख फैला कर कस-कस कर फड़फड़ाए। गोया मन्नान की ट्रेन के साथ उड़ पड़ेंगे ! पर पिंजरे की हद ने उन्हें रोक लिया। उड़ नहीं पाए मिट्ठू मियां, पर चिल्लाए, 'मन्ना जल्दी आना, जल्दी आना!'

पर। पुलिस टीम में बांग्लादेश बार्डर पर मन्नान और उनके परिवार को कागजी लिखत पढ़त में वहां की सेना के सिपुर्द कर दिया। लेकिन जैसे रिश्वतखोर यहां की पुलिस थी, वैसी ही रिश्वतखोर वहां की सेना भी थी। कुछ पैसे मन्नान ने पहले से ही तैयार रखे थे बाकी दोस्तों रिश्तेदारों के दिए पैसे भी बहुत काम आए। मन्नान ने अपनी रणनीति की पहली 'गणित' के मुताबिक पुलिस और सेना दोनों के हाथ पैर जोड़े, सुविधा शुल्क का चढ़ावा चढ़ाया और इस तरह बंगाली मुसलमानों के कहर से बच कर बांगलादेश बार्डर से वापस फिर इंडिया बार्डर में समा गए। यहां की सेना को भी सुविधा-शुल्क का चढ़ावा चढ़ाया और कलकत्ता आ गए। अपनी पुलिस टीम के साथ ही। पुलिस टीम तो पहले से ही 'सेट' थी सो कोई दिक्कत नहीं हुई। फिर रणनीति की गणित के ही मुताबिक पुलिस टीम काग़ज-पत्तर ले कर, मन्नान के दोस्तों के साथ अपने शहर रवाना हो गई और मन्नान सपरिवार नेपाल कूच कर गए। इसलिए कि हिंदुस्तान में गुप-चुप रहना भी खतरे से खाली नहीं था।

नेपाल में मन्नान ने फिर से अपनी टेंपरेरी गृहस्थी बनाई। पर वह यहां नेपाल में भी बार-बार आशियाना बदलते रहे। इस आशंका से कि कहीं फिर उन्हें पकड़ कर बांगलादेश न भेज दिया जाए!

पैसे बहुत खर्च हो चुके थे फिर भी तंगी में ही सही मन्नान गुजारा चलाते रहे। बहू और दामाद वापस हिंदुस्तान आ गए थे और नेपाल-हिंदुस्तान के बीच उन के कैरियर बने हुए थे।

बारी-बारी।

कुछ समय बाद एक रात मन्नान ने भी हिंदुस्तान की धरती पर क़दम रखा। मिट्टी को चूमा और खूब रोए। वकील के घर गए और 'केस' के बाबत पूरी तफ़सील से बात की।

फिर रात को ही वह लौट गए नेपाल।

मन्नान अब अकसर रात बिरात नेपाल से हिंदुस्तान आने लगे। वकील से मिलते। नाते रिश्तेदारों से मिलते। फिर रातों रात निकल जाते। गुपचुप! एक बार उन का मन हुआ कि अपने मुहल्ले में जाएं। अपना घर, उस की दीवारें देखें और

मिठ्ठू मियां से भी मिलें। बताएं कि, 'मिठ्ठू मियां मैं आ गया हूं।' पर कुछ भय, कुछ मन की कमज़ोरी, वह नहीं गए।

लेकिन जब वह दुबारा हिंदुस्तान आए तो रात के अंधेरे में अपने घर भी गए। रिक्शे से ही सही, मुहल्ले की गली-गली घूमते रहे। बार-बार। रिक्शा वाला परेशान हो गया। पर वह अपने घर के अगवाड़े-पिछवाड़े की गलियों में रिक्शा घुमवाते रहे। फिर अचानक अपने घर के पास उन्होंने रिक्शा रुकवाया। सोचा कि पड़ोसी का दरवाज़ा खटखटा कर मिठ्ठू मियां से थोड़ी गुफ्तगू कर लें। पर चलते-चलते अचानक रुके और अपने घर की दीवार चिपक कर छूने लगे। दीवारों को वह अभी मन ही मन महसूस कर ही रहे थे कि एक कुत्ता उन्हें चोर समझ कर भौंकने लगा। वह भाग कर रिक्शे पर बैठ गए। रिक्शे वाले से कहा, 'अब यहां से चलो !'

कुत्ते एक से दो, दो से तीन, तीन से चार होने लगे। कुत्ते भौंकते जा रहे थे और रिक्शा चलता जा रहा था। अब कुत्ते रिक्शे के आगे भी दौड़-दौड़ कर भौंकने लगे थे। मन्नान डर गए कि अभी तो कुत्ते उन्हें चोर समझ कर भौंक रहे हैं। कहीं मुहल्ले वाले जग गए और उन्हें पहचान लें तो ?

'रिक्शा तेज़ चलाओ!' मन्नान मारे डर के बड़बड़ाए।

'तुम पागल हो कि पिए हुए हो!' रिक्शावाला बोला, 'का नशा किए हौ !'

'कोई नशा पानी नहीं किए हूं। तुम बस चलो!'

'तो काहें चोर की तरह भागि रहे हो!' वह बोला, 'चोर हौ कि नटवरलाल हौ!'

मन्नान कुछ बोले नहीं।

बोलते तो बात बढ़ती और जो रिक्शा वाला उतार देता तो बड़ी फ़ज़ीहत होती। किसी तरह वह बस-स्टेशन आए और बस में बैठ कर नेपाल रवाना हो गए।

इस बीच मन्नान ने नेपाल में छोटा-सा कारोबार भी कर लिया। रोटी-दाल की ख़ातिर। आख़िर कब तक लोगों का दिया खाते ? नेपाल की ग़रीबी के चलते कारोबार बहुत अच्छा तो नहीं पर थोड़ा बहुत चल जाता था। रोटी दाल भर का। दिक्कत यह भी थी कि मुस्तकिल कोई दुकान, दफ़्तर खोल नहीं सकते थे। ज़्यादा पूंजी चाहिए होती। दूसरे, उन के शहर के कुछ लोग अकसर नेपाल आते रहते थे सो पहचान लिए जाने का ख़तरा था सो अलग!

एकाध बार हुआ भी ऐसा कि कोई परिचित दिख गया तो मन्नान को आंख बचा कर छुपते-छुपते वहां से भागना पड़ा। अपनी पहचान को छुपाने की ख़ातिर उन्होंने दाढ़ी बढ़ाने की तरकीब भी निकाली। पर दाढ़ी उन की घनी नहीं होती। फिर भी उन्होंने बढ़ाई। बात बनी नहीं सो साफ करा दी दाढ़ी। फिर उन्हों ने पैंट कमीज़ की जगह धोती, कुर्ता पहनना शुरू किया। फिर भी चेहरा पहचान लिया जाता और बड़ा कांशस रहना पड़ता ! धोती पहनने का अभ्यास था नहीं सो अटपटे ढंग से चलने के नाते जिस को नहीं देखना होता वह भी देखने लगता। तो यह धोती एक्सपेरीमेंट भी छोड़ना पड़ा। फिर मन्नान ने शेरवानी टोपी पहनना शुरू किया। यह कुछ-कुछ चल गया। हालां कि शेरवानी टोपी की भी आदत नहीं थी मन्नान को फिर भी धोती वाले एक्सपेरीमेंट से बेहतर था यह।

बाद के दिनों में मन्नान इंडिया से सब्ज़ी चावल वग़ैरह छुप छुपा के ला कर नेपाल में बेचने लगे और इसी तरह नेपाल से इलेक्ट्रानिक सामान, कुछ कपड़े वग़ैरह ले जा कर इंडिया में दामाद, बहू को बेचने ख़ातिर दे देते। सब्ज़ी, चावल वग़ैरह बहू, दामाद पहले से ख़रीद कर रखते, जिसे मन्नान नेपाल बेचने की ख़ातिर लाते। यह कारोबार अच्छा चल गया।

उन की बेग़म अब नेपाल में धीरे-धीरे एडजस्ट हो गई थीं। एक दिन बड़ी ख़ुश थीं। बोली, 'अब यहीं रह जाते हैं।'

'क्या ?' मन्नान चौंके। बोले, 'क्या कह रहीं हैं आप ?'

'ठीक ही तो कह रही हूं।' वह बोलीं, 'छोड़िए इंडिया में केस वग़ैरह का चक्कर!'

'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता !' मन्नान थोड़ी सख़्ती से बोले।

'क्यों नहीं हो सकता ?'

'इसलिए कि ऐसे ही आप ने तब की दफ़ा पाकिस्तान में रोक लिया था तो यह जहन्नुम के दिन भुगतने पड़ रहे हैं।' मन्नान बोले, 'अब और नहीं माननी इस बारे में आप की बात!'

'सच बताइए आप मेरे कहे से तब पाकिस्तान में रुके थे ?' बेग़म ने आंखें तरेर कर मन्नान से पूछा।

'तो और किस के कहे से रुका था ?' मन्ना झल्ला कर बोले।

'याद कीजिए!' बेग़म बोलीं और शरारती हंसी और तल्ख़ी घोल कर बोलीं, 'याद कीजिए और ज़रा दिल पर हाथ रख कर याद कीजिए!'

'आप कहना क्या चाहती हैं ?' मन्नान झुंझला कर बोले।

'यही कि आप मेरे कहे के नाते नहीं मेरी बहन सबीना के नाते तब के दफ़ा पाकिस्तान में रुके थे।'

'क्या बकती रहती हैं आप ?' मन्नान बोले, 'कई दफ़ा कहा कि वह सब बातें भूल जाइए। पर आप जाने क्यों याद रखती हैं।' मन्नान बोले, 'घाव पर नश्तर नहीं मरहम लगाना सीखिए!'

'अब सही बात कह दी तो नश्तर लग गया ? बेगम बड़ी तल्ख़ी से बोलीं।'

'इस बात को ख़त्म नहीं कर सकतीं आप ?'

'चलिए ख़त्म करती हूं सबीना वाली बात।' वह बोलीं, 'पर अब फिर से रिक्वेस्ट करती हूं कि नेपाल में ही रह जाते हैं।' उन्होंने जोड़ा, 'बड़ा सुकून है यहां की धरती पर।'

'सुकून तो है!' मन्नान बोले, 'पर यहां रहने की दूसरी कीमत देनी पड़ेगी!'

'यहां भी कोई सबीना मिल गई है क्या ?' बेगम मुसकुराती हुई बोलीं।

'आप औरतें भी अव्वल दर्जे की बेवकूफ होती हैं।' मन्नान बोले, 'यहां

जान निकली पड़ी है और आप सबीना के पहाड़े में ही पड़ी हैं।' वह खीझ कर बोले, 'इस उमर में, इस तकलीफ में यह सब सूझेगा भला ?'

'तो फिर जब कारोबार ठीक-ठाक चल गया है, कोई ज़िल्लत नहीं है तो यहां रहने में हर्ज़ क्या है ?'

'हर्ज़ यह है कि मैं ज्यादा दिन इस तरह स्मगलर बन कर नहीं जी पाऊंगा!' मन्नान ने बेगम से यह बात ऐसे कही जैसे चाबुक मार रहे हों।

'क्या कह रहे हैं आप ?' बेगम जैसे आसमान से ज़मीन पर आ गईं। बोलीं, 'या अल्लाह! आप स्मगलर कब से बन गए।'

'जब से लोगों की भीख लेनी बन्द की !' मन्नान बोले, 'यह जो नेपाल का सामान इंडिया और इंडिया का सामान नेपाल में बेच-बेचवा रहा हूं यह स्मगलिंग नहीं तो और क्या है ?'

'हाय अल्ला! ये खाने-पीने की चीज़ें बेचना भी स्मगलिंग है ?'

'बेचना स्मगलिंग नहीं है।' मन्नान बोले, 'इंडिया से चोरी छुपे यहां ला कर बेचना स्मगलिंग है। क्योंकि यहां चीज़ें पैदा नहीं होतीं और हम ड्यूटी देकर नहीं चोरी-छुपे ला कर बेंचते हैं।' मन्नान बोले, 'पर अब ज़मीर और यह गवारा नहीं करता। क्योंकि अपने वतन के साथ यह भी एक किस्म की गद्दारी है।' वह बोले, 'देशद्रोह है!'

'हाय अल्ला!' बेग़म बोली, 'तो फ़ौरन से पेस्तर बंद कर दीजिए यह काम!'

'तो खाएंगे क्या ?'

'भीख मांग लेंगे। मेहनत मज़दूरी कर लेंगे पर यह काम और इस काम का नहीं खाएंगे!'

'केस कैसे लड़ेंगे कहां से लाएंगे केस का खर्चा ?'

'कर्ज़ ले लीजिए, घर बेच दीजिए।'

'यही तो दिक्कत है !' मन्नान बोले, 'घर कौन खरीदेगा ? खरीदेगा भी तो रजिस्ट्री तो इंडिया में ही होगी!' वह बोले, 'कौन जाएगा रजिस्ट्री के लिए इंडिया में?'

'ये तो है !'

'कुछ नहीं अल्ला और उसके रसूल पर यकीन कीजिए।' बेगम का हाथ अपने हाथ में लेते हुए मन्नान बोले, 'सब ठीक हो जाएगा। जैसे इतना हुआ है वैसे आगे भी होगा।'

इसी दिन मन्नान की बहू इंडिया से नेपाल आई। उसने बताया कि केस अब फाइनल हियरिंग के स्टेज में है। सुन कर मन्नान और उन की बेगम बड़े खुश हुए। खास कर मन्नान की खुशी का कोई ठिकाना हीं था। मारे खुशी के वह बहू से बोले, 'बेटा हो सके तो एक एहसान और कर दो !'

'जो कहिए अब्बू वह करूंगी, पर एहसान जैसा कुछ मत कहिए।'

'चलो एहसान न सही, एक काम ही कर दो!'

'बोलिए, अब्बू !'

'किसी सूरत में मिठ्ठू मियां को यहां हमारे पास ला दो!'

'पर कैसे अब्बू ?'

'क्यों ? क्या दिक्कत है ?'

'दिक्कत नहीं अब्बू, दुश्वारी है।'

'क्या ?'

'चलिए मैं चच्चू से मांग कर मिठ्ठू मियां को ले भी आऊं, अपने लिए कह कर ही सही, आप का ज़िक्र भी नहीं करूं तो भी शक की एक चादर तो फैल जाएगी कि इतने दिन हो गए इस ने मिठ्ठू मियां को नहीं मांगा, अब क्यों मांग रही है ?' वह बोली, 'केश अब फ़ाइनल स्टेज पर है तो खामखा कहीं बिगड़ जाए! तो क्या फ़ायदा ?' वह बोली, 'अब तो अल्लाह से दुआ मनाइए कि आप जल्दी से जल्दी अपने मुल्क वापस चलिए!'

'ठीक है बेटा! मन्नान बोले, 'पर एक बार जा कर मिठ्ठू मियां को देख ज़रूर लेना।'

'एक बार क्या मैं तो अकसर जाती हूं। मिठ्ठू से बतिया लेती हूं।' वह बोली, 'एक बार तो आप ही की तरह मैंने भी सोचा कि मिठ्ठू मियां को चच्चू से मांग लूं। फिर यह सोच कर कि बेवजह शक या चर्चा का मसला हो जाएगा। सो चुप लगा गई।'

'ठीक है बेटा, अब मिठ्ठू मियां से आएंगे तभी मिलेंगे।' मन्नान बोले, 'पर केस पर बराबर नज़र रखना, कोई चूक न होने पाए!'

'बिल्कुल अब्बू!'

'और हां, हम लोगों ने तय किया है कि ये सब्ज़ी, अनाज वगैरह का कारोबार अब और नहीं करेंगे ?'

'क्यों ?'

'अब ज़मीर और इज़ाज़त नहीं देता।'

'यहां ज़मीर कहां से आ गया ?'

'बेटा तुम्हीं बताओ, यह एक किस्म की स्मगलिंग नहीं है ?' मन्नान बोले, 'और जिस मुल्क से हम अपने रहने के लिए पनाह मांग रहे हैं, उसी मुल्क के साथ यह गद्दारी ठीक है क्या ?'

'पर अब्बू! यह तो अपने मुल्क के बहुत से लोग कर रहे हैं!'

'बहुत लोगों को करने दो!' मन्नान बोले, 'हम नहीं करेंगे बस !'

'ठीक है अब्बू!' वह बोली, 'लेकिन फिर खर्चा कैसे चलेगा ?'

'यहीं करेंगे कुछ !' मन्नान बोले, 'थोड़ा कम खाएंगे, थोड़ा खराब पहनेंगे ! बस!'

'ठीक है अब्बू!'

मन्नान ने सचमुच वह कारोबार छोड़कर एक दुकान पर मुनीमी कर ली। लड़के भी इधर-उधर छोटे-मोटे कामों में लग गए। बेग़म और बेटी ने भी सिलाई-कढ़ाई का काम शुरू कर दिया। इस तरह थोड़ा खाने पहनने की तकलीफ हुई, पर काम चलता रहा।

इसी बीच पता चला कि दामाद ने दूसरा निकाह कर लिया। लेकिन मन्नान ने यह बात किसी को बताई नहीं। न बेटी को, न बेग़म को। खुद यह तकलीफ सीने में दफ़न कर बैठे। दामाद वैसे भी बेटी से मिलने अब नेपाल नहीं आता था। धीरे-धीरे मन्नान के दिन नेपाल में कटते रहे। इस आस में कि एक न एक दिन तो अपने मुल्क, अपनी इंडिया लौटना ही

है! अपने घर, अपने शहर, अपने लोगों के बीच।

और सचमुच एक दिन ऐसा आ गया। मन्नान की बहू और उन के वकीलों की मेहनत रंग लाई। कोर्ट ने मन्नान की भारत की नागरिकता को वैध मान लिया। मय उनके परिवार के। यह ख़बर भी शहर को हो गई। पर उस तरह नहीं जिस तरह उन की पाकिस्तानी के तौर पर गिरफ़्तारी की हुई थी।

मन्नान की बहू ने लेकिन जल्दबाज़ी नहीं की। मज़ारों पर चादरें चढ़ाई। मिठाई सबको खिला दी, यहां तक कि मन्नान के उस दामाद को भी जा कर मिठाई खिलाई जिस ने दूसरा निकाह कर लिया था। सब कुछ किया पर मन्नान के पास फौरन नहीं गई। क्योंकि वह कोई 'रिस्क' नहीं लेना चाहती थी। पहले कोर्ट से आदेश की नकल ली, नकल की भी कई फोटो कापियां कराईं। फिर गई वह नेपाल!

लेकिन चुपके से!

मन्नान और उनके परिवार की खुशी का ठिकाना न था। फिर तय हुआ कि नेपाल से अपने मुल्क को तुरंत न जा कर हफ्ते, दस रोज़ बाद पहुंचा जाए। नहीं, कहीं जल्दबाज़ी में कोई दूसरा इशू न खड़ा हो जाए! न कुछ तो यही कि मन्नान परिवार सहित बांगलादेश नहीं, नेपाल में रहे। तो ?

फिर एक सुबह अचानक मन्नान अपने शहर, अपने घर पहुंच गए। सपरिवार! मुहल्ले वालों ने उन्हें हाथों हाथ लिया। शहर में भी जिस-जिस को जब-जब पता चला मन्नान के घर की ओर चला।

दोपहर तक मन्नान के घर पर मिलने वालों की भीड़ बढ़ गई। मन्नान से मिलने उन का दामाद भी आया। और तो और अंजू बेगम के साथ मुहम्मद शफ़ी भी फूलों के गुलदस्ते और फलों की टोकरी के साथ मन्नान से मिलने आए। मुल्क में उनकी दोबारा आमद पर उन्हें गले मिलकर मुबारकबाद दी।

हां, अगर मन्नान से कोई नहीं मिला तो वह थे मिठ्ठू मियां जो मन्नान से हरदम कहते थे, 'मन्ना जल्दी आना, जल्दी आना!' जो उस रोज़ भी मिठ्ठू मियां ने कहा था जब मन्नान ट्रेन से बांगलादेश जा रहे थे। मिठ्ठू मियां ने तो कहा था और बार-बार कहा था, चिल्ला-चिल्ला कर कहा था, 'मन्ना जल्दी आना, जल्दी आना।'

पर आज मन्ना का इस्तकबाल करने के लिए महफ़िल में मिठ्ठू मियां नहीं थे। रहते भी कैसे ? उन का इंतकाल हो गया था और मन्ना ने आने में थोड़ी नहीं, बहुत देर कर दी थी।

महफ़िल में रौनक थी, मन्नान के आमद की। पर मन्नान कहीं उदास थे मिठ्ठू मियां की याद में। ◆

विनोद
श्रीवास्तव

जन्म – 2-01-1955 (दो जनवरी उन्नीस सौ पचपन)
जन्म स्थान – कानपुर (उत्तर प्रदेश)
पैतृक स्थान – गौनहा, लालगंज, रायबरेली (उत्तर प्रदेश)
शिक्षा – परास्नातक (अर्थशास्त्र एवं हिंदी)
प्रकाशन – गीत संकलन 'भीड़ में बाँसुरी' (1979) पराग प्रकाशन, दिल्ली एवं 'अक्षरों की कोख से' (2001) अनुभूति प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित। साप्ताहिक हिंदुस्तान, कादम्बिनी, सरिता, माधुरी (हिंदी फिल्म पत्रिका), करेण्ट, वागर्थ, गंगनाचल, समांतर, दस्तावेज, अमृत प्रभात, एवं अक्षत आदि पत्रिकाओं तथा दैनिक हिंदुस्तान, स्वतंत्र भारत, दैनिक जागरण, अमर उजाला, राष्ट्रीय सहारा आदि समाचार पत्रों में गीत प्रकाशित तथा देश के अनेक काव्य संग्रहों में गीत संकलित।
सम्प्रति – दैनिक जागरण समूह से संबद्ध एवं लक्ष्मी देवी ललित कला अकादमी कानपुर में कार्यरत।

निवास एवं सम्पर्क –
'आनयन', म. नं.- 695, सेक्टर-ई,
कृष्णविहार, आवास विकास कल्याणपुर,
कानपुर (उत्तर प्रदेश) - 208017,
दूरभाष- 0512-2575366, मो०- 9838987346।

गीत

1

बाँह में बाँह डाले हुए
आइये हम चलें घाटियों में
देखिये मेघ काले हुए
आइये हम चलें घाटियों में

फूल से फूल की बतकही
देह में गुदगुदी कर रही
गंध से महमहाती हुई
इन्द्रधनुषी हवा फिर बही

क्षण प्रणय के हवाले हुए
आइये हम चलें घाटियों में

मृत्यु से भी अधिक वर्जना
हम करें नेह की सर्जना
हो रही है नशीली घटा
दूर आकाश में गर्जना

बिजलियों के उजाले हुए
आइये हम चलें घाटियों में

दूर भी दूरियाँ कीजिए
पावसी नीर में भीजिए
शाम बेहोश करने लगी
कुछ सहारा हमें दीजिए

ये अधर प्यास वाले हुए
आइये हम चलें घाटियों में

2

शाम-सुबह महकी हुई
देह बहुत बहकी हुई
ऐसा रूप कि बंजर-सा मन
चंदन-चंदन हो गया

रोम-रोम सपना सँवरा
पोर-पोर जीवन निखरा
अधरों की तृष्णा धोने
बूँद-बूँद जलधर बिखरा

परिमल पल होने लगे
प्राण कहीं खोने लगे
ऐसा रूप कि पतझर-सा मन
सावन-सावन हो गया

दूर हुईं तनहाइयाँ
गमक उठीं अमराइयाँ
घाटी में झरने उतरे
गले मिलीं परछाइयाँ

फूलों-सा खिलता हुआ
लहरों-सा हिलता हुआ
ऐसा रूप कि खण्डहर-सा मन
मधुवन-मधुवन हो गया

डूबें भी, उतरायें भी
खिलें और कुम्हलायें भी
घुलें-मिलें तो कभी-कभी
मिलने में शरमायें भी

नील वरन गहराइयाँ
साँसों में शहनाइयाँ
ऐसा रूप कि सरवर-सा मन
दर्पण-दर्पण हो गया

3

पहले हमें नदी का सपना
आते-आते आया था
लेकिन अब मरुस्थल का कम्पन
जाते-जाते जायेगा

जब साँसों में आग नहीं थी
बादल तुम तो यहीं रहे
अब छाया की पड़ी जरूरत
आँचल तुम भी नहीं रहे

पहले हमें नाम का जपना
आते-आते आया था
लेकिन अब परिचय का बंधन
जाते-जाते जायेगा

हमें बताया गया कि मेला
मन की सारी पीर हरे
लेकिन उत्सव में होना तो
मन को और उदास करे

पहले हमें गंध में रहना
आते-आते आया था
लेकिन अब प्राणों का चंदन
जाते-जाते जायेगा

अब न डोलती घर आंगन में
महकी धूप महावर सी
इन आँखों में तैर रही है
कोई शाम सरोवर सी

पहले हमें गीत में बहना
आते-आते आया था
लेकिन अब सुधियों का दंशन
जाते-जाते जायेगा

4

आयेंगे
शुभ दिन भी आयेंगे
आखिर ये कब तक भरमायेंगे

छवियों से भरी हुई घाटी यह
खुशबू का गीत गुनगुनाने को
रोज सुबह से कितना बजती है
शाम ढले दीप सौ जलाने को

जायेंगे कहाँ
लौट आयेंगे
शब्दों से दोस्ती निभायेंगे

रची-बसी आदिम उपहारों से
पृथ्वी कितना कुछ तो देती है
शुद्ध राग भरती है प्राणों में
सारा कोलाहल पी लेती है

छायेंगे
मेघमदिर छायेंगे
जहाँ रेत अमृत बरसायेंगे।

शिवकुमार
अर्चन

युवा गीतकार।
पत्र-पत्रिकाओं में गीतों का प्रकाशन।

संपर्क -
10, प्रियदर्शनी ऋषि वैली ई-8,
गुलमोहर एक्सटेंशन,
भोपाल-39

गीत

1

आंखों में उग आए
फूल पारिजात के
ऐसे अनुदान हुए
भीनी बरसात के।

मौन के स्वयंवर में
शब्दों की भीड़ है
स्वप्न के परिंदे का
इन्द्रधनुष नीड़ है
रंग सभी उलट गए
ऋतु की दावत के।

सांसों पर टहल रहीं
अनछुई सुगंधियां
राजमार्ग जीती हैं
सूनी पगडंडियां
तितली के पंखों पर
हैं निबंध रात के

चेहरे से भावुकता
विनम्र आशुतोष है
आंखों में छुपा हुआ
एक शब्दकोष है
सौ-सौ मतलब निकले
बिन बोली बात के।

2

तुमने जो अधर से छुआ
पोर-पोर बांसुरी हुआ

लौटी फिर गंध गुलाबों की
होकर उस पर्वत के पार
तपती इस धरती पर गा गए-
रिश्तों के मेघ जल मल्हार
पाल लिया सांस का सुआ।

सौंप गया जबसे इन बाहों को
क्षण अपने उजले निष्कर्ष
रह रहकर खूब याद आए
दूध में नहाए स्पर्श
काम आ गई कोई दुआ।

सारा का सारा नम पी गया
सपनों का दूधिया उजास
एक बूंद जाने कब लिख गई
मरुस्थल पर जल का इतिहास
दर्दों का छोड़ हाशिया।

3

उंगली पर धूप मिले
करवट से रात
प्यार में मिली हमको
ये ही सौगात।

दूरी का दर्द क्या बताएं
अर्थहीन हो गई ऋचाएं
फूलों के मौसम में भी हम
गंधहीन बांसुरी बजाएं
होंठों का गांव छोड़
भाग गई बात।

यूं एकाकीपन ने काटा
फैल गया मीलों सन्नाटा
दरवाजे दस्तक को तरसे
घर, दीवारें ने मिल बांटा
नागफनी की जड़ में
गिरा दूध-भात।

इन्द्रधनुष जैसे दिन बीते
किरणों के कलश सभी रीते
सांसों के रंगमहल में अब
सपनों के रह गए सुभीते
केवल यात्राएं हैं
दूरी अज्ञात।

4

जब जब पत्र तुम्हारे आए
संबंधों की इस धरती पर
इन्द्रधनुष लहराए।

शब्द, शब्द मोती जैसा है
वाक्य मोतियों की माला
स्याही के धोखे पृष्ठों पर
उलट गई हो ज्यों हाला
होठों ने सरगम छेड़ी
पलकों में स्वप्न उगाए।

भाव, सिन्दूरी, महकी शैली
शहद नहाई भाषा
जैसे सांसों पर सांसों की
एक नई परिभाषा
कमरे ने पायल बांधी
चटके दर्पण मुसकाए।

रात-रात भर अब सिरहाने
एक गीत जगता है
उसकी ऊंचाई के आगे
जग बौना लगता है
पुरवा पर चुम्बन टांके
आंखों से चित्र बनाए।

नूर मुहम्मद
'नूर'

नाम – नूर मुहम्मद: नूर मुहम्मद 'नूर' के नाम से हिंदी, भोजपुरी में लेखन।
जन्म – 17 अगस्त 1954, गांव: महासोन, डाक: महुअवी कारखाना जनपद कुशीनगर (यू०पी०)
शिक्षा – बी. काम. कोलकाता विश्वविद्यालय (1973)
मातृभाषा – भोजपुरी नाटक छोड़ साहित्य की हर विधा में लेखन कविताओं की पहली पुस्तक ''ताकि खिलखिलाती रहे पृथ्वी'' 1997 में, 'आवाज़ का चेहरा' कहानियों का संग्रह 2003 में एवं ''दूर तक सहराओं में'' गज़ल संग्रह 2006 में, प्रकाशित हिन्दी की तमाम छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में रचनाओं का निरंतर प्रकाशन। गज़ल संग्रह 'सफर कठिन है' का इस साल आना तय।
सम्प्रति – दक्षिण पूर्व रेलवे मुख्यालय कोलकाता के दावा / विधि विभाग में प्रधानलिपिक के पद पर।

सम्पर्क – सी. सी. एम कलेम्स,
दक्षिण पूर्व रेलवे, 3, कोयला घाट स्ट्रीट,
कोलकाता 70000। प० बंगाल।
फोन मो० 09433203786, घर – 033-65340506

गज़ल

1

कतरा-कतरा बिखर गया पानी
ये न पूछो किधर गया पानी

जाने किस-किस ने इसको बहकाया
जाने किस-किस के घर गया पानी

देखकर, बादलों को बेपानी
मेरी आंखों में भर गया पानी

देख नीचे फटी हुई धरती
बादलों में सिहर गया पानी

खूब चमका किया है चेहरों पर
और आंखों में मर गया पानी

सूखे खेतों पर जब कभी बरसा
जगमगाया, संवर गया पानी

ज्यों अंधेरे में, नूर जी ठिठके
रास्ते में ठहर गया पानी

2

तीरगी का जहान चारों ओर
'नूर' का इम्तिहान चारों ओर

एक बस आदमी ही गिरता है
उठ रहे हैं मकान चारों ओर

तीर तो फूल बन गए कब के
और टूटी कमान चारों ओर

हौसले पस्त, अज्म ठण्डाए
एक सी है थकान चारों ओर

कहकहों पर सवार है रहवर
रो रहा संविधान चारों ओर

इंडिया में बदल रहा हरदम
नूर हिन्दुस्तान चारों ओर।

3

शोला-शोला या बेशरर होगी
जिंदगी जेर या जबर होगी

रोशनी और-और भी कमतर
तीरगी और तेजतर होगी

हम मरे यूं मरा करे कोई
वो मरे तो बड़ी खबर होगी

रात तो रात की तरह गुज़री
जाने किस रंग की सहर होगी

जो कहीं भी, कभी नहीं पहुँचे
वो मेरी-तेरी रहगुजर होगी

'तीरगी' जिस जगह मजा मारे
वो जगह 'नूर' तेरा घर होगी।

4

रह गया जूझता सवालों से
बच न पाया समय की चालों से

ये सियासत तो एक जादू है
भूख मिटती है क्या कमालों से

किन के मुंह में समा रहे आखिर
कौन पूछे भी अब निवालों से

वो तरक्की के आंकड़े देंगे
रोज़, बाजार के उछालों से

सुख के सामान कुछ नहीं ज्यादा
घर भरा है मेरा रिसालों से

ढंग का इक शेर कह नहीं पाया
यूं गज़ल कह रहा हूं सालों से

आचार्य सारथी

प्रख्यात् कवि, चित्रकार, उपन्यासकार और विचारक।

जन्म – 2 दिसम्बर 1960, चमरौआ सारथीपुरम्, जिला रामपुर (उ० प्र०)। **चित्रकार** के रूप में अपनी अलग शैली विकसित करके **'दी स्टीम ऑफ वीमेन लाइफ'** शीर्षक से 25 वर्षों में रेखांकनों की एक विस्तृत श्रृंखला रचकर कला के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। चार गज़ल संग्रह – 'तुम चन्दन हम पानी', 'कबिरा खड़ा बाज़ार में', 'अनहद', 'आग और रंग' विभिन्न विश्वविद्यालयों के शोध प्रबन्धों में चर्चित। अमीर खुसरों, कबीर, मीर, गालिब, भारतेन्दु और निराला की परम्परा के आधुनिक गज़लकार। आगामी पुस्तकों में– 'थिंग्स विल चेंज' (उपन्यास), 'अगिनपांखी' (गज़ल संग्रह), 'सूली ऊपर सेज' (अशआर और दोहे), 'सीपियाँ कुछ बोलना चाहती हैं' (उर्दू ग़ज़ल संग्रह) 'किसी शिशु के जन्म पर (प्रतिनिधि कविताएँ), 'शब्द-शब्द में गंध तुम्हारी' (प्रेम कविताएँ) तथा कथाकार कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव पर केन्द्रित पुस्तकें। पत्रकार के रूप में 'शेष दुनिया' और 'सुखन' सहित अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन। देश की सभी प्रमुख पत्रिकाओं के लिए निरन्तर लेखन।

सम्पर्क –
रचनाश्री, 1/5786, बलवीर नगर चौक,
शाहदरा, दिल्ली-110032 (भारत)
दूरभाष : 9891694468।'

गज़ल

1

मिलते रहे हैं रोज़ नई तश्नगी से हम,
अब तक कहाँ मिले हैं किसी भी खुशी से हम।

खेलेंगे तेरे साथ हर इक आगही से हम,
जीने चले हैं मौत! तुझे आज ही से हम।

हर चीज़ लग रही है हमें रोकती हुई,
अब रूठकर चले हैं कहाँ जिन्दगी से हम।

पूँजी बची थी सिर्फ ये लुटने के बाद तो,
करते बयान दर्द को कैसे किसी से हम।

तिश्नालबों के नाम तेरा जाम क्यूँ नहीं,
करते रहे सवाल यही ज़िन्दगी से हम।

अपनी खुशी से जाएँगे कैसे भला कहीं,
कब आए तेरी बज़्म में अपनी खुशी से हम।

पूछेगा आके कौन भला हम से ये कभी,
कैसे हुए हैं दूर तेरी ज़िन्दगी से हम।

सब कुछ भुला के अपनी ही रौ में जियें-मरें,
इतने भी बेख़बर तो नहीं हैं किसी से कम।

तेरी नजर की लौ में जिये तो हुई ख़बर,
खुद भर गए हैं यार! नई रौशनी से हम।

है बेखुदी का साथ मगर 'सारथी' कहीं,
टकरा रहें हैं रोज़ जहाँ में खुदी से हम।

2

हैं जमीं और आस्माँ मेरे लिए,
ग़र्दिशे-आलम यहाँ मेरे लिए।

हैं परेशाँ जिस्मो-जाँ मेरे लिए,
रोज़ उठता है धुआँ मेरे लिए।

हैं गुबारो-गर्द, चेहरे, आइने,
और तेरी दास्ताँ मेरे लिए।

धूप, चिड़िया, रोशनी, जंगल, हवा,
और गम की बस्तियाँ मेरे लिए।

तू, घटायें, चाँदनी, झरने, दुआ,
चन्द खुशियों के गुमाँ मेरे लिए।

चाँद, सूरज, मौत, सिजदे, आदमी,
फिक्र के सब आशियाँ मेरे लिए।

गीत, मौसम, प्यार, सपने, बेखुदी,
चाहतों के कारवाँ मेरे लिए।

भूख, आंसू, रोटियाँ, ज़िल्लत, नशा,
ज़िन्दगी की दास्ताँ मेरे लिए।

भीड़, चीखें, बेबसी, उल्फ़त, अना,
'सारथी' सब कुछ यहाँ मेरे लिए।

3

तल्ख़ एहसास से गुज़रना था,
फिर मुझे प्यास से गुज़रना था।

जिस तरह अजनबी गुज़रते हैं,
यूँ तेरे पास से गुज़रना था।

मेरे नज़दीक ज़िन्दगी जीना,
एक बनवास को गुज़रना था।

रोज़ एहसास को भुलाना था,
रोज़ एहसास से गुज़रना था।

बोझ लेकर किसी हक़ीकत का,
ख़्वाब के पास से गुज़रना था।

रो पड़ी प्यास मेरी हालत पर,
इस क़दर प्यास से गुज़रना था।

रुत को जीना था प्यार से भरकर,
और सन्यास से गुज़रना था।

रोज़ जलना था इक दिये जैसा,
और संत्रास से गुज़रना था।

'सारथी' पतझरों के थे साये,
और मधुमास से गुज़रना था।

4

मैं चढ़ते चाँद जैसा देखता हूँ,
उसे मैं और उजला देखता हूँ।

वो मुझको रौशनी सी भर रहा है,
मैं उसको रोज़ जलता देखता हूँ।

चमक है आग जैसी बालों पर में,
मैं इक ऐसा परिन्दा देखता हूं।

ये कुल मन्ज़र तमाशा लग रहा है,
अजब उसका करिश्मा देखता हूँ।

मैं उसके नूर में डूबा हूँ ऐसा,
हर इक लम्हे को हँसता देखता हूँ।

मेरा किरदार जैसे खो गया है,
खुली आँखों से सपना देखता हूँ।

नज़र की हद में अनहद आ गया है,
खुदी को पास बैठा देखता हूँ।

समुन्दर, चाँद, सूरज, फूल, आँसू,
सभी में इक नज़ारा देखता हूँ।

मुझे वो 'सारथी' दिखने लगा है,
मैं उसको रफ़्ता-रफ़्ता देखता हूँ।

5

जो तेरी रोशनी अक्सर तलाशता है यहाँ,
उसी को चाँद भी शबभर तलाशता है यहाँ।

है एक फूल-सा बच्चा मैं जिसको जीता हूं,
मुझे ही क्यूँ कोई ख़न्जर तलाशता है यहाँ।

कहीं भी जाऊँ मैं ये साथ-साथ चलता है,
हरेक लम्हा नया डर तलाशता है यहाँ।

छिपा है चेहरा मेरा जो तेरे तसव्वुर से
यूँ मुझको आइना अक्सर तलाशता है यहाँ।

कज़ा का ज़िक्र भी आए तो गुनगुनाता है,
उसे तो दर्द भी हँसकर तलाशता है यहाँ।

जो बुझ गया है वो रौशन-चराग़ मैं ही था,
मुझे ही जीस्त का मन्ज़र तलाशता है यहाँ।

कभी वो 'सारथी' खुद आके दस्तकें देगा,
मेरी पुकार में जो डर तलाशता है यहाँ।

6

रूहे-शबे-विसाल में जलते हुए दिये,
टूटे न माहो-साल में जलते हुए दिये।

अपने सुकूँ को आप ही तोड़े चले गए,
शबभर तेरे ख़्याल में जलते हुए दिये।

तेरी नज़र के दीप जले मुझमें इस तरह,
जैसे गगन के थाल में जलते हुए दिये।

खुद लौ ही साथ छोड़ती आयी नज़र जहाँ,
देखे हैं ऐसे हाल में जलते हुए दिये।

जल भी रहे हैं और ज़रा रौशनी नहीं,
डूबे हैं किस मलाल में जलते हुए दिये।

जैसे किसी का रूप है रंगों की पैरहन,
या ज़िन्दगी के ताल में जलते हुए दिये।

कैसे करें तलाश कहीं खो चुकी अना,
इस तीरगी के जाल में जलते हुए दिये।

कुछ-कुछ उभर के रूप वो आता है 'सारथी',
रक्खें जो हम मिसाल में जलते हुए दिये।

केशव शरण

जन्मतिथि - 23 अगस्त उन्नीस सौ साठ, वाराणसी।
प्रकाशित कृतियां - तालाब के पानी में लड़की (कविता संग्रह)
जिधर खुला व्योम होता है (कविता संग्रह)
दर्द के खेत में (ग़ज़ल संग्रह)
कड़ी धूप में (हाइकु संग्रह)
सम्प्रति - सरकारी सेवा, वाराणसी।

सम्पर्क -
एस. 2/564, सिकरौल,
वाराणसी-2
मो. नम्बर : 9415295137

1 तभी से हूं बेचैन

सूखे खजूर की छाया में बैठा हूं
भूखा-प्यासा
और सामने खौलता सागर है नमकीन
और पीछे, अलंघ्य दीवार के पीछे
बह रहा है
कल-कल करता झरना
दिखाई दे रहा है
फूलों की वादी हसीन
राबिन्सन क्रूसो
और कालापानी की सज़ा भोगते
कैदियों से भी विचित्र
मेरा यह स्वप्न-चित्र
जिसे देखा था कल रात
तभी से हूं बेचैन
कि क्या है इसका आशय
और चरित्र

2 सिर्फ़ एक बात का डर

बड़े आराम से
ज़िन्दगी गुज़र रही है
इस मंज़िल पर
नज़ारा लेते हुए
दूर तलक हरियाली का
झील और पहाड़ी का
यहाँ सर
और दिल पर
बोझ भी नहीं ज़्यादा
सिर्फ़ एक बात का डर
लगा रहता है पीछे
कि कहीं किसी दिन
फेंक न दिया जाऊं नीचे

3 पहुंचना है उस ज़मीन

मुझे पहुंचना है उस ज़मीन
जहां मेरे अपने रह रहे हैं
जहां ठंडे पानी के
मीठे झरने बह रहे हैं
हिचकोले लेती नाव में
सवार हूं
सरस मिलन की आस लिये
और प्यास नमकीन
इतना बढ़िया है कि
डॉल्फिनें और सीगल चिड़ियां हैं रास्ते में
मेरा अकेलापन बांट रही

अरुण शीतांश

जन्म - 02.11.1972, अरवल ज़िला के विष्णुपुरा गाँव (बिहार) में।
शिक्षा - एम. ए. (भूगोल), बी. लिब. साईंस, एल. एल. बी., पी. एच. डी.।
प्रकाशन - देश के विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ एवं समीक्षाएं प्रकाशित। अब तक मात्र दो कहानी सरपंच एवं मोल नामक प्रकाशित। आकाशवाणी व दूरदर्शन (पटना) से कविताएँ लेख एवं साक्षात्कार प्रसारित। 'मित्र' एक अंक का संपादन सहयोग। 'जगरम' भोजपुरी पत्रिका का कुछ दिन तक संपादन सहयोग। **'देशज'** नामक (कविता प्रधान) पत्रिका का संपादन ''एक ऐसी दुनिया की तलाश में'' कविता संग्रह शीघ्र प्रकाशन।
संप्रति - डी. ए. वी. +2 पब्लिक स्कूल आरा में कार्यरत्।

संपर्क - मणि भवन,
संकट मोचन नगर, आरा, बिहार।

1 निकट भविष्य में ही....

खो गया है
वह रूमाल
जिसकी चमक बचपना सी थी
वह शख्स चुराकर ले गया
भीतर की खुशी
जिससे बैठकर खेलते थे
घेरा बनाकर हम बच्चे
मेरा फटा रूमाल
निकट भविष्य में हीं मिल जाना चाहिए
माँ, जिससे पोंछ डालती थी
चेहरा
चेहरा
जो बाज़ार में तम हो रहा है
रूमाल को छोड़कर क्यों ?

2 निगाहें

नादानियाँ नहीं रहीं
परेशानियाँ बढ़ती गईं
तुम कहाँ हो माँ, दीदी, बुआ, भैया ?
कोई नहीं मिल रहा है
उम्र बढ़ती जा रही है सभी की
नादानियाँ खत्म नहीं होतीं

3 चक्कर आने पर

दादियाँ नहीं रहीं
बस माएँ थोड़ी बची हैं
जैसे घर में अनाज
जैसे कोबार में पुआल
अभी लौटी है
किरण संग सहेलियाँ
कानों मे लेकर बालियाँ
नथुनों के गहने नहीं रही
बस पायल थोड़ी बची है
जैसे थाली की आवाज
जैसे चक्कर आने पर झन से करता है माथा
सब कुछ लूट जाने का भय है
कोई व्यापारी 18वीं शताब्दी से लगा है
भारत को लूटने में रोको तो!

4 कवि छोड़ जायेगा पंक्ति

मारे जाने के बाद
क्या बचेगा
त्वचा, हड्डी, आँख, किड़नी, बाल
कुछ देर बाद सब आग और मिट्टी में समा जायेंगे
फिर इतना परिश्रम किन बातों को लेकर
जब मारा जायेगा
बाप-बेटा-मतारी-बहन
जिंदा रहेगी कविता
सुनहले अक्षरों में
जब कवि छोड़ जायेगा कोई पंक्ति
पंञ्चामृत की तरह

प्रचेता बुधवार

जन्मतिथि – 10.04.1982, बी. टेक. (इलेक्ट्रानिक्स एण्ड कम्यूनिकेशन)

रुचियां – पर्यटन, संगीत एवं साहित्य।

संप्रति – फिडेलिटी इंटरनैश्नल में टेकनिकल एनालिस्ट के पद पर कार्यरत

पता –
Fidelity Business Services India Pvt. Ltd.
Tower–D Unitech World,
Sector–39, Gurgaon,
HARYANA-122 001 (INDIA)
e-mail : pracheta.budhwar@gmail.com
Phone _ 09810410218

1 ज़िन्दगी

उड़ते कागज़ की तरह
पता नहीं किधर जा रही जिन्दगी,
न कागज जाने न हम
हवा का रुख ही तय करेगा
दोनों का सफर,
पता नहीं कभी ठहरेगी या नहीं
अगर ठहरी तो कहां
कुछ पता नहीं
उड़ो, बस उड़ते जाओ
अगर रास्ते में हुई मुलाकात किसी सागर से
तो समा जाओ उसमें,
टकराया कोई पहाड़ तो कर देगा
टुकड़े-टुकड़े
पर फिर भी
उड़ते रहना है टुकड़ों में!

2 नींव की ईंट

हर इमारत की जरूरत
होने के बावजूद भी
नींव की ईंट
उसकी शान का कारण
क्यों नहीं होती ?
कभी नहीं पा पाती
किसी की प्रशंसा
वह ईंट
जो सब कुछ सहकर
हमेशा रही इमारत के साथ.....
वाह वाही हमेशा रंग रोगन
ने ही लूटी
जो लगी इमारत पर
उसके अस्तित्व में
आने के बाद।

3 मानुष-वश

धूप में कितनी गुनगुनाहट हो
और हवा में कितनी शीतलता,
यह बात तो
धूप और हवा ही जानें,
बारिश रिमझिम होगी
या मूसलाधार
यह तो बादलों की इच्छा पर निर्भर
खूबसूरत है हर चीज़
जब तक उसमें नैसर्गिकता है
मनुष्य के बस के बाहर की चीजें
इसीलिए ज़्यादा खूबसूरत हैं
शायद वे चीजें
नहीं है जिन पर
मानुष-वश।

श्री नारायण सावलानी

श्री नारायण सावलानी समाज सेवी तथा हिन्दी प्रेमी हैं। इन्होंने खाड़ी के क्षेत्रों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार में योगदान दिया है। दुबई के उद्योगपति श्री सावलानी जी सांस्कृतिक तथा साहित्यिक कार्यक्रमों का आयोजन करते रहते हैं। फोटोग्राफी में इनकी विशेष रुचि है।

संपर्क -
चेयरमैन
द इंडियन हाई स्कूल
पी.ओ. बॉक्स 106
दुबई
Email- <narisawlani@hotmail.com>
Mobile no. : +971 50 6585055

रिश्ते बदल जाते हैं

रिश्ते बदल जाते हैं, राहें बदल जाती हैं।
वक्त के साथ साथ, यह दुनिया बदल जाती है।।

शादी के बंधन से पहले, किए थे कई वादे
अब वे वादे नहीं रहे, रह गई हैं सिर्फ यादें
प्राथमिकता थी जो पहले, वह अंत में गिनी जाती है

रिश्ते बदल जाते हैं, राहें बदल जाती हैं।
वक्त के साथ साथ, यह दुनिया बदल जाती है।।

संजोए थे जो सपने, सोचा पूरा करेंगे मैं औ 'मेरे अपने'
पर सपने मेरे साथ रहे, हकीक़त बनकर हुई उनकी जो थे अपने
बड़ों को सीढ़ी बनाकर, ऊपर चढ़कर बड़ों को भूल जाते हैं

रिश्ते बदल जाते हैं, राहें बदल जाती हैं।
वक्त के साथ साथ, यह दुनिया बदल जाती है।।

नई पीढ़ी कहलाने वालो, बड़े तो सिर्फ देते हैं दुआ।
पर विधि का विधान है जैसे बोया, वैसा पाया जाता है।
गो माँ ने दूध बंद किया तो उसे गोशाला पहुँचाया जाता है

रिश्ते बदल जाते हैं, राहें बदल जाती हैं।
वक्त के साथ साथ, यह दुनिया बदल जाती है।।

त्रेता में एक सुपुत्र ने पितृ वचन पर बनवास लिया
कलयुग के पूत ने बीवी-वचन पर पितृ का घर से निकास किया
यह उन्नति है पैसे का मूल्य बढ़ रहा है, जीवन मूल्य लुप्त हो जाते हैं

रिश्ते बदल जाते हैं, राहें बदल जाती हैं।
वक्त के साथ साथ, यह दुनिया बदल जाती है।।

अमरीक सिंह
दीप

5 अगस्त, 1942 को जन्में अमरीक सिंह दीप ने
मातृभाषा पंजाबी होने के बावजूद हिन्दी में साहित्य रचना की।
कहानियां, समीक्षाएं और अखबारों में चर्चित कॉलम लिखे।
'कहां जाएगा सिद्धार्थ', 'काला हाण्डी', 'सिर फोड़ती चिड़िया', 'चांदनी हूं मैं' आदि चर्चित कृतियां हैं।
'तीर्थाटन' कहानी पर फिल्म का निर्माण।

संपर्क –
119/372-बी, फ्लैट न. 101,
गोल्डी अपार्टमेण्ट्स, दर्शनपुरवा, कानपुर।

पाठक को पठन हेतु प्रेरित करता

'आंगन खड़ा फक़ीर'

'आंगन खड़ा फक़ीर' बलराम की समय-समय पर विभिन्न साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी दो दर्जन पुस्तक समीक्षाओं का संग्रह है। संग्रह के फर्स्ट फ्लैप पर काशी नाथ सिंह का आलोचना कर्म के सन्दर्भ में कथन अंकित है — 'आलोचना भी रचना (ही) है।' इस पंक्ति को दर्ज करने के पीछे अच्छा कहानीकार साहित्य की अच्छी जानकारी भी रखता है। वह रचनाओं का मूल्यांकन भी ठीक प्रकार से कर सकता है। लेकिन किसी वस्तु को सही नम्बर के चश्मे से देखना और खुर्दबीन से देखना दोनों ही अलग-अलग बातें हैं। खुर्दबीन में सूक्ष्मतम को भी पकड़ने की क्षमता होती है जो कि चश्में में नहीं होती। यही एक विशुद्ध आलोचक और कहानीकार समीक्षक में फर्क है।

हिन्दी कथा साहित्य में आलोचकों का सदैव से ही घोर अभाव रहा है। इसकी क्षतिपूर्ति के लिए मजबूर हो कई कथाकारों को कहानी लिखने के साथ-साथ कथा समीक्षाएँ लिखने का काम अपने हाथ में लेना पड़ा है। उस दृष्टिकोण से यह संग्रह महत्त्वपूर्ण है। खास कर इन दिनों साहित्य में चल रही राजनीति के कारण कुछ नई श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों की अनदेखी कर सम्पादक अपने इष्ट मित्रों की साधारण कृतियों को महान साबित करने के लिए उनकी एक ही अंक में तीन-तीन समीक्षाएं छाप रहे हैं। बलराम ने ऐसी उपेक्षित श्रेष्ठ कृतियों की अनदेखी को गंभीरता से लिया है और उन पर खूब लम्बी चौड़ी समीक्षाएं लिखी हैं। विशेष तौर पर कामतानाथ का उपन्यास 'काल कथा'। इस पुस्तक की पूरे तीस पृष्ठ की समीक्षा है इस संग्रह में। लेकिन इस उपन्यास का मूल्यांकन करते हुए बलराम खुद को उपन्यास की सीमा तक महदूद नहीं रख पाते और कामतानाथ के करीब पूरे साहित्य की जानकारी पाठक को देना शुरू कर देते हैं — 'ग़ज़ब'! कि 'साक्रिा' में छपते ही 'एक और हिन्दुस्तान' मराठी, गुजराती, मलयालम, कन्नड़, सिन्धी और पंजाबी आदि अनेक भारतीय भाषाओं में अनूदित होकर वहां की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। इससे इसकी लेकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। (पृष्ठ 55-56)

यही विषयान्तर संग्रह की अन्य कई और समीक्षाओं में भी है। ऐसी चंद खामियों के बावजूद 'आंगन खड़ा फक़ीर' पुस्तक प्रेमी पाठकों के लिए एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, जो उनका सही पुस्तक चुनने का मार्ग प्रशस्त करती है। ◆

पुस्तक का नाम	:	आंगन खड़ा फक़ीर
लेखक	:	बलराम
मूल्य	:	दो सौ रुपये
प्रकाशक	:	नीलम प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली-30

पाठक के अन्तर्लोक के छाया चित्र

'उसकी पैंट'

किसी भी लेखक को पूरी तरह से जानने के लिए, उसके भीतर की दुनिया की मुक्कमल जानकारी के लिए उसके सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन यथेष्ट है। उसकी सारी कृतियों को पढ़ कर पाठक यह जान जाता है कि लेखक किस मिट्टी से निर्मित हुआ है, कैसे संस्कारों की आग में तप कर परिपक्व हुआ है, उसके जीवन का असली रंग रूप क्या है, कैसा जीवन वह चाहता था, कैसा जीवन उसे मिला है। इस लिहाज से कथाकार राजकुमार सिंह के भीतर की दुनिया बहुत जटिल, बीहड़ और खौफनाक है।

वहां फूल, सुगन्ध, हवा, हरियाली, बारिश और चांदनी बहुत कम है और धधकता हुआ अन्तहीन रेगिस्तान व कंटीले कैक्टसों का विस्तार बहुत ज्यादा है। स्व. गुरुदत की चर्चित फिल्म प्यासा की एक नज्म है — 'तंग आ चुके है कशमकशे ज़िन्दगी से हम, ठुकरा न दें जहां को बड़ी बेदिली से हम।' इस नज्म के बीच की पंक्तियां हैं — 'हम ग़मजदा हैं लाएं कहां से खुशी के गीत, देंगे वही जो पायेंगे इस जिन्दगी से हम।' राजकुमार सिंह भी अपनी कहानियों के माध्यम से इस दुनिया को वही सब लौटा रहा है जो कुछ उसे ज़िन्दगी और दुनिया ने दिया है। उसके नये कहानी संग्रह 'उसकी पैंट' की कहानियां प्रमाण हैं इस बात का।

इस संग्रह में कुल अठारह कहानियां है। जिनका मुख्य मुद्दा है — भ्रष्ट राजनीति, खलनायक बाप, साम्प्रदायिकता, प्रेम में मिली असफलता, कम तन्खाह की नौकरी के अन्तर्गत आने वाले अभाव व विवशताएं और साहित्य में हो रही घपले बाज़ी।

इस संग्रह की 'इच्छित खलनायक' कहानी हो या फिर 'वे आंखें' कहानी हो या फिर उसकी बहुचर्चित कहानी 'पिता', उसकी ज्यादातर कहानियों का पिता बेहद क्रूर, जल्लाद, अय्याश और सामन्तवादी तानाशाह है और मां निरीह, भीरू, खूंटे से बंधी गाय।

'काफी रात बीत जाने पर शराब के नशे में चूर बाऊ जी ने दरवाजा भड़भड़ाया था। मां ने दरवाजा खोला था। मां को देखते ही बाऊ जी का मदमाता तेज स्वर उभरा था — तुम गई नहीं... ? वो स्साला हरामी का पिल्ला ?'

मां दम साधे मौन रही।

'बोलती क्यों नहीं राण्ड ?'

कसाई की गाय की तरह मां थरथराने लगी और उसकी आंखों से टपटप आंसू बहे जा रहे थे। अपनी असुरक्षा भावना पोख्ता जानी तब उन्होंने पहली बार मुझे पुकारा था। बाऊ जी मेरा नाम सुनते ही और ज्यादा कुपिया गये थे — 'बुला ले साली, देखता हूं, कौन बचाता है ?' बाऊ जी ने पास पड़ी लोहे की छड़ उठा ली थी। (इच्छित खलनायक : पृष्ठ : 27)

ऐसा ही उदाहरण इस संग्रह की एक और कहानी 'वे आंखे' का प्रस्तुत है — पहले उसके बाप ने गुप्तांगों से घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़े थे। फिर अंधाधुंध पीटना शुरू कर दिया था। उसकी मां चुहिया जैसी दुबकी देखती रही थी। उसका जी चाहा था — वह गंजे बाप के सिर पर कोई भारी चीज दे मारे। (वे आंखे : पृष्ठ संख्या 124)

इसी संग्रह की एक और कहानी 'तेरा बापू' का पिता हालांकि उपरोक्त कहानियों जैसा क्रूर और जल्लाद नहीं है पर पिता के खलनायिकी खौफ की छाया इस कहानी के नायक पर भी तारी है।

लेखक की न कोई जाति होती है न कोई धर्म। उसकी बस एक ही जाति होती है — इंसान और एक ही धर्म इन्सानियत। इसलिए जाति और धर्म के नाम पर जो स्वार्थी राजनीतिज्ञ इंसान को इंसान से अलग करते है, काटते है, बांटते है लेखक के नम्बर एक शत्रु हैं। 'गणशत्रु' 'कहां हो मोहम्मद नियाज अहमद', 'एक दिन अचानक' व 'बहरे कानों के बीच फंसी चीख' इस संग्रह की साम्प्रदायिकता विरोधी कहानियाँ है। पहली कहानी 'गणशत्रु' में जहां लाश को रख कर राजनीति करने वालो और साम्प्रदायिक घृणा फैलाने वालों का पर्दाफाश करती है। वहीं 'कहां हो मोहम्मद नियाज अहमद' कहानी एक धर्मनिरपेक्ष मुसलमान के समाजिक उत्थान के लिए किए गये कार्यों का हिन्दू नायक द्वारा हतोत्साहित किया जाना आदमी के अन्दर आ गयी धार्मिक संकीर्णता को बेनकाब करता है। 'एक दिन अचानक' साम्प्रदायिकता के विषैले घोल में डूबी एक प्रेम कहानी है, जिसका स्पष्ट आशय है कि प्रेमिका बांटने की चीज नहीं है। 'बहरे कानों के बीच फंसी चीख' एक धर्मनिरपेक्ष इंसान बचान की चरित्र प्रधान कहानी है। मोहल्ले-टोले में हर किसी के काम आने वाले इंसान को साम्प्रदायिकता कैसे खण्डित कर अकेला कर देती है इसकी तफसील है यह कहानी। चारों ही कहानियां विचारोत्तेजक और दिल को छू जाने वाली कहानियां है।

'दो झूठों के बीच का सच', 'बिन पते के पोस्टकार्ड', 'बासी गोश्त' और 'एक तिलचट्टे की मौत' अलग-अलग शेड्स की प्रेम कहानियां हैं। प्रेम को लेकर हर लेखक और विद्वान ने अपनी अलग-अलग स्थापनाएं दे रखी हैं। कोई इश्के हकीकी का पक्षधर है तो कोई इश्के रूहानी का। 'दो झूठों के बीच का सच' कहानी का पति इश्के रूहानी को जबरन इश्के हकीकी सिद्ध करने पर तुला एक

कुंठाग्रस्त व्यक्ति है। लेकिन सच्चाई जब उद्घाटित होती है तो वह स्वयं अपने मुंह पर थूक लेता है। बेवजह कहानी को लम्बा करने का लेखकीय मोह इस अच्छी कहानी को उबाऊ कर देता है। एक शराबखाने में दो शराबियों के बीच एक झूठे खण्डित प्रेम की चर्चा है 'बिन पते के पोस्टकार्ड'। विवाह हो जाने पर प्रेमिका 'बासी गोश्त' हो जाती है और विधवा हो जाने पर उसे अपनाना संभव होता है इसी सामन्ती पुरुष सोच की कहानी है 'बासी गोश्त'। और 'एक तिलचट्टे की मौत' भी 'बासी गोश्त' से ही मिलते-जुलते थीम की प्रेम कहानी है। राजकुमार सिंह की प्रेम कहानियां भी उसकी अन्य कहानियों की ही तरह आक्रोश और तल्खी से भरी हुई है। इनमें रागात्मक कोमलता का अभाव खटकता है।

'देवता जहां वास करते हैं' और 'मैं क्यों मरा' न्यूनतम वेतन में जीवनयापन की मजबूरी की कहानियां है। पहली कहानी जहां इस विवशता से दाम्पत्य में उपजे कलह काण्ड की कहानी है वहीं दूसरी आर्थिक अभाव में जीना संभव न रह जाने पर मर जाने की फण्तासी है। इस फण्तासी द्वारा नायक मरने के बाद खुद को मिलने वाले ट्रीटमेंट को अपनी बंद आंखों से देखता, महसूसता और कुढ़ता है।

'लगड़ी बैन्च पर' व 'मुखबिर विरोधी' कहानियां राजनीति के घिनौनेपन को बेनकाब करने वाली साधारण कहानियां है।

'उसकी पैंट' और 'रक्षा करो, प्रभु' साहित्य में इधर घर करते जा रहे दोगलेपन की कहानियां है। 'उसकी पैंट' में पुनः फण्तासी शिल्प का प्रयोग करते हुए एक भरे पेट वाले लेखक, सम्पादक और प्रकाशक के छद्म का भण्डाफोड़ करते हुए उसे नंगा साबित किया है और फटेहाल जनुईन लेखक को इज्जत, मान-सम्मान की पैंट धारण करने वाला।

राजकुमार सिंह की ज्यादातर कहानियों के नायक व्यवस्था विरोधी ऐसे इंसान है जो मनुष्य विरोधी ताकतों के भीमकाय पहलवान को एक ही पटखनी में चित्त कर देने के दुस्साहस से ज़िन्दगी के अखाड़े में कूदते हैं लेकिन उसे चित्त करना तो दरकिनार बार-बार उससे पटकनियों पर पटकनियां खाते चले जाते है। बावजूद इसके उनका हौसला टूटता नहीं है और वे फिर-फिर कपड़े झाड़ कर इस पहलवान से भिड़ने के लिए खड़े हो जाते है। लेकिन राजकुमार सिंह की नायिकाएं इसका अपवाद हैं।

प्रूफ की हद से ज्यादा गलतियां कहानियों की गतिशीलता को तो बाधित करती ही हैं, कहीं कहीं अर्थ का अनर्थ भी कर डालती हैं। ◆

पुस्तक का नाम	: उसकी पैंट
लेखक	: राजकुमार सिंह
मूल्य	: एक सौ पचास रुपये
प्रकाशक	: राजभाषा पुस्तक प्रतिष्ठान, करतार नगर, दिल्ली-53

आकाशकुसुम होती स्त्री का आख्यान

'जिन दिन देखे वे कुसुम'

तीसरी आँख का वरदान कुदरत हर इंसान को प्रदान नहीं करती। यह तीसरी आँख वह अदृश्य आँख होती है, जो हर स्थूलता को पार कर उसके मर्म तक जा पहुंचती है और मर्म का भेद जान कर उसे उद्घाटित करने की क्षमता रखती है। तीसरी आंख कुदरत उन लोगों को प्रदत्त करती है, जिनके हृदय में जगत के समस्त प्राणियों के प्रति गहरी संवेदना और उनके दुख : दर्द को दूर करने की प्रबल लालसा विद्यमान रहती है। पीरों-फकीरों, साधु-सन्तों, ज्ञानियों-विज्ञानियों, कलाविदों के अतिरिक्त यह तीसरी आंख कुदरत अच्छे लेखकों को भी प्रदान करती है। लता शर्मा के पास भी इस तीसरी आंख का वरदान है। प्रमाण है उसका नया कहानी संग्रह - 'जिन दिन देखे वे कुसुम।'

संग्रह में कुल जमा बारह कहानियां हैं। पहली कहानी 'मन भर' कन्या भ्रूण हत्या की समस्या की अन्तर्सतह में पैठ कर इस पूरी त्रासदी का बड़ी निर्ममता से चीर हरण कर डालती है।

रेगिस्तान और प्यास दोनों ही एक दूसरे का पर्याय हैं। 'रहिमन पानी राखिए' और 'गिद्ध हर जगह है' इसी प्यास से सन्दर्भित दो भिन्न पहलुओं की कहानियां हैं। 'रहिमन पानी राखिए' एक अनाथ बाल मज़दूर सुगना के जीवन के असहनीय दुखों और इन दुखों से मुक्ति की प्यास की दास्तान है। दुख, जो उसके जेठे काका ने उसकी ज़मीन जोत उसे ठेकेदार के हाथ बेच बँधुआ बना कर दिए, दुख जो ठेकेदार ने उसे भूखा प्यासा रख कर उसके पसीने की आख़िरी बूंद तक निचोड़ लेने की हवस ने दिए और इन दुखों से मुक्त होने के जानतोड़ प्रयास के चलते वह चोरी छुपे एक ट्रक में छुप कर अपने गणपत काका के पास जयपुर भाग जाता है। प्रचण्ड गर्मी में दिन-रात का जयपुर का सफ़र और छुप कर ट्रक में दुबके होने के कारण, पानी न मिलने के कारण भड़की प्यास। फाइव स्टार होटल में दरबान की ड्यूटी पर तैनात गणपत काका ड्यूटी खत्म होने तक के लिए जब उसे होटल के एक बाथरूम में दुबका देता है तो बाथरूम के वेस्टर्नशैली के पॉट में भरा जल जैसे अमृत कुंभ!

'मुझे आइसक्रीम नहीं चाहिए।.... पानी भी नहीं। बताइए। पानी तक का

पैसा।' अचानक वह उत्तेजित हो उठी— 'क्या मज़ाक है। पानी तक का पैसा।.... सड़क पर कोई प्याऊ होती.... ठण्डा पानी मिल जाता।' (गिद्ध हर जगह है : पृष्ठ : 44)

प्यास से बेहाल दो गर्दिश के मारे मुफलिस इंसान। एक पुरुष दूसरा स्त्री। बाज़ारवाद का प्रताप। सड़क पर पानी न मिलने पर एक बड़े होटल में दाखिल हो जाते है लेकिन होटल में पानी बोतलबंद उपलब्ध। उनकी फटी जेबें उन्हें कैसी त्रासद मनः स्थिति में डाल देती हैं, प्यास की इस एक अलग विलक्षण स्थिति की कहानी है — 'गिद्ध हर जगह है।' कहानी जब प्यास की त्रासदी पर केन्द्रित रहती है दिल को छूती हुई चलती है लेकिन कहानी का चमत्कारी अन्त पूरी कहानी को प्रभावशीलता को तिरोहित कर देता है।

बाज़ारवाद का अजगर किस तरह से आमजन को अपनी कुण्डली में कस कर सब का जीना दूभर करता जा रहा है इस ज्वलंत समस्या से हमें दो चार कराती है 'यक्ष प्रश्न' और 'कोई एक रंग चुनो' कहानियां। त्याग, उत्सर्ग और ममता जैसे जीवन मूल्य भी अब बाज़ारवाद के दोहन का विषय हो गए है। इनके चलते एक पढ़ी लिखी नौकरीपेशा बहू अपनी प्रधान अध्यापिका के पद से सेवानिवृत्त सास को अपने पति के बॉस के घर महरी का काम करने के लिए मजबूर कर देती है, इसी यक्ष प्रश्न से रूबरू कराती है 'यक्ष प्रश्न' कहानी। कहानी की कथावस्तु नई नहीं है। फिल्मकार-लेखक गुलज़ार फिल्म 'मेरे अपने' में इस पेचीदा प्रश्न से अपने ढंग से जूझ चुके हैं। कहानी का अन्त अमरकांत की कहानी 'चीफ की दावत' का छायाभास दे जाता है। लेकिन बाज़ारवाद के बखिए उधेड़ती एक जबरदस्त कहानी है 'कोई एक रंग चुनो'.... इस देश का पूंजीपति धनपशु है। मुक्त बाज़ार से मिली सरकारी छूटों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दबाब में आकर सरकार द्वारा लचीले किए गए श्रम कानूनों ने उसकी पौ-बारह कर दी है। वह विशेष इकोनॉमिक जोन (सेज) के अन्तर्गत कौड़ियों के भाव किसानों की ज़मीन खरीद, सरकारी ऋणों व करछूटों का पूरा-पूरा लाभ उठा कर उद्योग लगाता है और कर छूटों की मियाद खत्म होते ही सरकारी ऋण डकार कर श्रमिकों को पिछाड़ी लात मार कर दूसरे विशेष इकोनॉमिक जोन की ओर पलायन कर जाता है। पूंजीवाद के इसी चंडाल चेहरे को बेनकाब करती है यह कहानी। पूंजीवाद के इस चंडाल चेहरे का विधवा विलाप करती है यह कहानी। पूंजीवाद के इस चंडाल चेहरे का विधवा विलाप काबिले गौर है — 'तो इन सारे कामचोर, रोगी बूढ़ों को कन्धों पर बिठा कर मैं इस गला काट बाज़ार में चल पाऊंगा ?' (पृष्ठ : 53)

इस संग्रह की एक और सशक्त कहानी है 'अभियान'। वर्ल्ड बैंक और यूनीसेफ द्वारा इस देश से अशिक्षा दूर करने के लिए दिए गए आर्थिक अनुदान के बंदरबांट की कहानी है अभियान। राजस्थान के एक पिछड़े इलाके को जब पांच करोड़ रुपये 'सघन साक्षरता अभियान' चलाने के लिए उपर्युक्त संस्थाओं द्वारा दिए जाते हैं तो उसकी लूटपाट के लिए छोटे-बड़े अधिकारियों द्वारा कैसा छद्म नाटक किया जाता है, कैसा उत्सव उल्लास मनाया जाता है, इस कहानी को पढ़ कर यह स्पष्ट महसूस किया जा सकता है — 'आकाश में प्लास्टिक का भीमकाय गुब्बारा लहरा रहा था। वैसा ही जैसा महानगरों में विज्ञापन के लिए इस्तेमाल किया जाता है। गुब्बारे पर 'जय साक्षरता' लिखा था और साक्षरता 'लोगो' बना था। आयुक्त महोदय वस्तुतः अचंभित हो गए। 'ये दिल्ली-मम्बई की चीज़! इस बोंगी ढाणी में ! कैसे ?' छाती फुला कर बताया जिलाधीश ने — 'लगभग एक लाख रुपया खर्च हुआ है इसमें।' (पृष्ठ : 78)

लेखिकाद्व के बहुआयामी जीवन अनुभव चमत्कृत कर देने वाले है। संग्रह में दो साम्प्रदायिकता विरोधी अविस्मरणीय कहानियां है — 'कलाबत्तू' और 'सवाल दो रुपये का नहीं है'। आज़ादी के साथ ही साम्प्रदायिकता ने इस देश को दो टुकड़ों में विभाजित कर दिया था। साम्प्रदायिकता अब और भी ज्यादा भयावह रूप से इस देश को खण्ड-खण्ड करने और इसे पुनः पराधीन करने के एड़ी चोटी का जोर लगाये हुए है। साम्प्रदायिकता ने हमें अब भारतीय नहीं रहने दिया। पुराने छोटे-छोटे रजवाड़ों और रियासतों की तरह अलग-अलग धर्मों और जाति समूहों में बांट दिया है। शक्तिशाली धनपशु और बाहुबली इन जाति समूही रियासतों के राजा बन बैठे हैं। स्वामीभक्त प्रजा चुनाव के वक्त अपने-अपने राजा और उसके मन्त्रीगणों को भारी बहुमत से जिताती है। इस देश के लोकतन्त्र में घर कर गए साम्प्रदायिकता के इस कोढ़ी-कुरूप रूप को उजागर करती है ये कहानियां।

पहली कहानी 'कलाबत्तू' में कैसे साम्प्रदायिकता ने इस देश की सांझी गंगा जमुनी हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति को दोफाड़ कर दिया है, इस विषय के सारे रग-रेशे खोल कर रख देती है। दोनों ही कहानियों की पृष्ठभूमि अहिंसावादी गांधी का फासिस्ट ताकतों की कठपुतली बन चुका हिंसक गुजरात है — '27 फरवरी एक तारीख, अचानक उठी और 6 दिसम्बर की बगल में जा खड़ी हुई। गोधरा कांड और बाबरी मस्जिद। अयोध्या से लौटते कार सेवकों को जीवित जला दिया। गुजरात बंद। फिर गुजरात की सड़कों, इमारतों ने जो देखा, वो पत्थर ही देख सकते थे। सूची मिलान कर घर-दुकान फूंकना, गैस सिलेण्डर और बिजली के करेंट से जीवित जला देना। कितने घर फूंक दिए, कितने लोग मारे गए, कितने लापता है — सही-सही ब्यौरा मिलना असंभव है। संसद में देश के रक्षामन्त्री ने बयान दिया कि इस तरह के दंगे में बलात्कार तो होते ही है। इसमें कौन सी नई बात है। बलात्कार बड़ा मामूली सा शब्द है। जो हुआ शब्दातीत था। गर्भवती का भ्रूण निकाल, पाशविक उल्लास से भ्रूण हत्या। गर्भाशय चीर कर उसमें जलती बोरी ठूंस देना।' (कलाबत्तू : पृष्ठ 117-118)

जय हो सहिष्णु, उदार, करुणावतार तथाकथित राष्ट्रवादी हिन्दू की। जो दंगे के बाद अपना क्रूर, निर्मम, हिंसक चोला उतार करुणावतार का मुखौटा पहन सर्वदलीय पर्यवेक्षक दल के सामने प्रकट होता है और पर्यवेक्षक दल की एक सदस्या को उसकी मुस्लिम सहेली को मार कर उससे हथियाये कलाबत्तू के बंधने वाले पनडिब्बे से निकाल कर पान पेश करता है।

दूसरी कहानी 'सवाल दो रुपये का नहीं है' हमें हमारी उस पलायनवादी कायर घरघुसरू प्रवृत्ति के खतरे से अगाह करती है, जिसके चलते हम अनचाहे साम्प्रदायिकता के अजगर के मुंह में खुद-ब-खुद खिंचते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति है साम्प्रदायिकता का रूप ले चुके धार्मिक सार्वजनिक आयोजनों में उदण्ड असामाजिक तत्त्वों को चंदा देकर उन्हें गली के कुत्ते से हिंसक साम्प्रदायिक शेर बना देने की।

'जलातंक' और 'दराज में बसे लोग' अपने विषय का खुलासा न कर पाने वाली साधारण कहानियां है। हिजड़े भी इंसान होते हैं। उनका भी अपना एक चरित्र होता है, अच्छे इंसानों वो मानवीय वैसे संस्कार होते हैं। इस अछूते विषय को उठाती है — 'कहीं भी नहीं है जो' कहानी। यह एक पतिव्रत हिजड़न की कहानी है, जो पुलिस की अमानवीय यातनाओं से अधमरी हो जाती है लेकिन पुलिस के बड़े अफसर के भोग का सामान नहीं बनती। खूब झक बम्बईया (अब मुम्बईया) बिंदास भाषा में लिखी यह कहानी पाठक को खूब झकझोरती है। और संग्रह की शीर्षक कहानी — 'जिन दिन देखे वे कुसुम'। स्त्रियों की घटती जनसंख्या की चिन्ता की चरम पराकाष्ठा लेखिका के मस्तिष्क में एक फैंटेसी को जन्म देती है — 'प्राकृतिक मादा के अभाव में जनसंख्या वृद्धि लगभग शून्य है। केट कामिनी (क्लोण्ड फीमेल) संश्लेषित भ्रूण अस्वीकार कर देती है.... जैसे मानव शरीर प्रत्योपित हृदय या वृक्क अस्वीकार कर देता है। हमें किसी भी कीमत पर एक नैसर्गिक अक्षत मादा चाहिए।' (पृष्ठ संख्या : 154) इसी नैसर्गिक अक्षत मादा के अपहरण और उससे दुनिया के महान वैज्ञानिकों द्वारा नैसर्गिक संतान पाने की जद्दोजहद की कहानी है यह। साथ में संलग्न एक पारिवारिक कहानी की छौंक। कहानी में नारी विमर्श के लम्बे-लम्बे लेखनुमा ब्योरे कहानी की गति को बोझिल कर देते हैं।

लता शर्मा की भाषा में कृष्णा सोबती जैसा धाकड़नपन है — 'मर्द जात का क्या है ? लावारिस गाय पर कोई भी सांड चढ़ बैठेगा।' (पृष्ठ : 158) भाषा के साथ उनके शिल्प में टटकापन है। कुल मिला कर इस संग्रह की कहानियां पाठक की बाज़ारवाद से दंशित संवेदना को जगाए रखने (उसे मरने से बचाए रखने) में पूरी तरह से सफल हैं। ◆

पुस्तक का नाम : जिन दिन देखे वे कुसुम
लेखिका : लूता शर्मा
प्रकाशक : मेधा बुक्स कानपुर - 208012, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आर्थिक टूटन की कहानियां

'विवस्त्र'

जब से अपने मुल्क में आर्थिक उदारवाद की बयार बही है और विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने इस देश को मुक्त बाजार और देशवासियों को एक जिन्स में बदलने का षडयन्त्र रचा है तब से इस देश के लोगों के जीवनमूल्यों, आदर्शों और मानवीय सम्बन्धों में भारी गिरावट आई है। इस अवमूल्यन को सत्ता प्रतिष्ठान देश की तरक्की मान रहा है और घोषित भी कर रहा है लेकिन साहित्य इसे मानवीय संवेदना का क्षरण और इंसान में पशुपन का उदय मान रहा है। 'विवस्त्र' युवा कथाकार प्रताप दीक्षित का पहला कहानी संग्रह है। इस संग्रह की ज्यादातर कहानियां माननीव सम्बन्धों में आई शुष्कता और मानवीय संवेदना में तेजी से हुए क्षरण की कहानियां है।

संग्रह में छोटी-बड़ी कुल डेढ़ दर्जन कहानियां है 'गुमशुदा' पहली कहानी। आर्थिक तंगदस्ती का निदान एक गुमशुदा बूढ़े की तलाश में नजर आता है। आर्थिक विवशता के मकड़जाल में फंसे लोगों की ही कहानियां 'तमाचा', 'निर्वासित' व 'फटारवेल' भी है। यह कहानियां शायद लेखक के प्रारंभिक दौर की कहानियां है। जो न मन को गहरे तक छूती है न प्रभावित करती है।

'विवस्त्र' हालांकि इस संग्रह की शीर्षक कहानी है । और यह भी आर्थिकता की मार से विवस्त्र होते इंसानी रिश्तों की ही कहानी है। महीने भर की उपेक्षा के बाद पहली तारीख को कैसे अपने हो या पराये सब का व्यावहार आत्मीय हो जाता है — पत्नी चाय ले आई थी। उसके दोनों हाथ में चाय के कप थे जैसे पुजारी के हाथों में दीपक। वह अपनी भी चाय साथ ही ले आई थी। (पृष्ठ : 54) यह कहानी भी साधारण श्रेणी की ही कहानी है। पता नहीं लेखक ने इस कहानी के नाम से संग्रह का नाम क्यों रखा ?

लेखक की परिपक्व कहानियां हैं 'उस शहर में आखिरी शाम', 'अनुत्तरित' व 'गंधमादन पर एक दिन'। 'अनुत्तरित' आर्थिक स्वार्थों के चलते गिद्ध हो गए पारिवारिक रिश्तों की मार्मिक कहानी है। पति की मृत्यु के बाद उसकी विधवा से घर के रिश्तेदार उसकी सम्पत्ति हथियाने के लिए कैसे गिद्धपन पर उतर आते है इसका सटीक उत्तर है 'अनुत्तरित कहानी'।

'उस शहर में आखरी शाम' कहानी नहीं एक उदास कविता है। कहानी स्त्री-पुरुष के बीच की दोस्ती के मध्य उनकी मानसिक आसक्ति और दैहिक अनासक्ति को बड़े उदात्त ढंग से सामने लाती है। 'उस दिन वह काफी देर तक रूका था। चलते समय वह भावुक हो गई थी, 'माइ लव! तुमने मुझे जिन्दा रखा है। जब कभी लौटना इधर जरूर आना। शहर के इस कोने में 'मैं' तुम्हारा इन्तजार करूंगी।' (पृष्ठ : 50)

पत्नी को उसने सब कुछ बता दिया था। पत्नी उससे मिलने को उत्सुक थी। सिमी उन्हें देख जैसे पागल हो गई थी — 'तुम्हारी नई शादी हुई है। अभी मधुमास चल रहा है। मैं दूसरा कमरा तुम्हारी मधुयामिनी के लिए सजाए दे रही हूं। यह रात तुम यहीं 'बिताओ।' (पृष्ठ : 50)

'गंधमानदन पर एक दिन' स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की जटिलताओं की कहानी है। कहानी का मूलाधार प्रेम है और प्रेम का मूलाधार देह नहीं आत्मा होती है। अगर आत्मा निष्कलुष हो तो स्त्री देह के साथ पराये मर्द द्वारा किया गया छल भी प्रेम के सामने प्रभावहीन रहता है। एक पौराणिक कथा है.... 'कंस की माता पवन रेखा के साथ दुर्मिल नामक एक छोटा राजा कंस के पिता उग्रसेन का रूप धारण कर देह सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। दुर्मिल के अंश से उत्पन्न कंस अपनी मां की उपेक्षा सहन नहीं कर पाता और एक कुण्ठित व्यक्ति हो कर रह जाता है।' 'गंध मादन पर एक दिन' कहानी नायक की उदारता के कारण नायिका की संतान को कंस होने से बचाती है। एक अच्छी कहानी।

'रेबॉक के जूते' और 'डबल बेड' दोनों ही आर्थिक विवशता की कहानियां हैं। एक कहानी अगर कामगार वर्ग की आर्थिक विवशता की कहानी है तो दूसरी निम्न मध्यम वर्ग के परिवार में आर्थिक विवशता के चलते की गई चालाकियों की दास्तान है।

'निन्नी कब मरी थी' व 'अब क्षमा याचना नहीं' दोनों ही स्त्री-विमर्श के दो विपरीत ध्रुवों की कहानियां है। 'निन्नी कब मरी थी' में जहां स्त्री पति उपेक्षा की घुटन से तिल-तिल कर बेआवाज दम तोड़ देती है, वहीं, 'अब क्षमा याचना नहीं' की स्त्री अपने परम्परागत भीरू स्वभाव से मुक्त होकर अपने जबरन बलात्कृत होने को अपना दोष न मान कर अपने पूरे वजूद के साथ तन कर खड़ी हो जाती है — 'अगले दिन, सबकी आशा के विपरीत, वह बैंक के लिए तैयार हुई थी, शोख कपड़े। मेकअप रोज की तरह, हल्का नहीं। उसने निश्चय कर लिया था कि अधूरे सच वाली जिन्दगी अब वह नहीं जिएगी। उसका जीवन अपना है। क्या इसका एक अंश अपने लिए नहीं ?' (पृष्ठ : 89) दोनों कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर एक बात स्पष्ट सामने आती है कि मजबूत आर्थिक आधार प्राप्त होने पर स्त्री अबला नहीं रह जाती है।

और अन्तिम कहानी 'गंगा बाबू वापिस आए'.... बूढ़ा वरिष्ठ इंसान पुराने घने छायादार वृक्ष की मानिन्द होता है। उसकी जड़ें अपने परिवेश में बहुत गहरे पाताल तक फैली होती है। अगर उसे उसके परिवेश में उखाड़ कर दूसरे स्थान पर रोपने की चेष्टा की जाती है तो वह सूखने लगता है। अपने पुराने परिवेश में लौटने पर उसका मुरझायापन फिर से हरेभरे पन में बदलने लगता है।

प्रताप दीक्षित का यह पहला कहानी संग्रह है। इस संग्रह से उनके अंदर के लेखक की विकास यात्रा को समझा और महसूसा जा सकता है। उनके अन्दर गहरी संवेदनशीलता है जो दूसरे के दुख और दर्द का अनुवाद कहानी में कर देती है। हां, भाषा के स्तर पर उन्हें अभी और परिपक्व होना होगा। ◆

पुस्तक का नाम	:	विवस्त्र तथा अन्य कहानियां
लेखक	:	प्रताप दीक्षित
मूल्य	:	एक सौ चालीस रुपये
प्रकाशक	:	साहित्य संस्थान, गाजियाबाद (उ.प्र.)

गीताश्री

बॉलीवुड 1995 से 2007 तक

संपर्क -
आउटलुक (हिन्दी)
सफ़दरजंग एन्क्लेव,
नई दिल्ली।

परदेसी दर्शकों और देसी मल्टीप्लेक्स का भरोसा

'बात दरअसल यह है कि पूरे पांच साल पहले — हो सकता है कुछ महीनों की कमीबेशी हो मेरे आकलन में — एक पाप किया था मैंने, वह था 'अंजलि' नाम से एक अनजानी फिल्म का निर्माण, जो पूरी तरह फ्लॉप होकर रह गई फिल्मी दुनिया के इस रुपहले परदे पर.... इस इंडस्ट्री में फ्लॉप फिल्में बनाना सरासर पाप है, हिट बनाना पुण्य।' ये पंक्तियां उस पत्र की हैं जिसे बॉलीवुड को 'गाईड' जैसी संवेदनशील फिल्म देने वाले मशहूर फिल्मकार चेतन आनंद ने चरम मनोदशा की स्थिति में अपने एक पत्रकार दोस्त को लिखी थीं। ये पंक्तियां उस दौर की याद दिलाती हैं जब किसी संवेदनशील फिल्मकार की किसी फिल्म का फ्लॉप हो जाना उसके लिए शाप से कम नहीं था। आज इस वाकये पर विश्वास करना असंभव नहीं तो मुश्किल जरूर है।

दो राय नहीं कि मूक फिल्मों से मैसेज और मसाला फिल्मों, एंग्री यंगमैन से एंटी हीरो, समांतर सिनेमा से क्रॉस-ओवर सिनेमा तक बॉलीवुड ने कई रंग देखे हैं और बीते 10-12 बरसों में तो मुंबइया फिल्मों की समूची दुनिया ही बदल गई है। फिल्में बनाने-चलाने से लेकर देखने-दिखाने तक के ढंग पूरी तरह बदल गए हैं। मुंबइया फिल्मों ने विदेशों में भी धाक जमाई है। ऐसे में बॉलीवुड के बदलते माहौल में फिल्मों के निर्माण-निर्देशन से लेकर वितरण-प्रदर्शन के तरीकों में आए बदलावों पर एक नजर डालना दिलचस्प रहेगा। ◆

आई लव माई इंडिया उर्फ परदेस में देसी दिलवाले और दुल्हनियां

मुंबइया फिल्मों का कैमरा पहले भी यूरोप-अमेरिका जाता रहा है, मगर पहले यह ज्यादातर गानों की शूटिंग लोकेशन की तलाश में जाता था, या तब जब स्टोरी में ओवरसीज लोकेशन की दरकार हो। मगर 1995 में प्रदर्शित दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे की रिकॉर्डतोड़ सफलता ने बॉलीवुड में मुहावरा ही बदलकर रख दिया। इस फिल्म के नायक-नायिका- दोनों अप्रवासी भारतीय थे। लंदन में रहते थे। एक महीने की कॉलेज ट्रिप पर दोनों यूरोप जाते हैं और इसी ट्रिप के दौरान दोनों के बीच प्रेम-संबंध बनते और विकसित होते हैं। इस फिल्म ने देश-विदेश में 100 करोड़ रुपये से ज्यादा का व्यवसाय किया और फिर बॉलीवुड में एनआरआई प्यार की बयार तेजी से बहने लगी।

परदेस, प्यार तो होना ही था, जब प्यार किसी से होता है, हम दिल दे चुके सनम, मेरे यार की शादी है, आ अब लौट

चलें, कहो न प्यार है, कभी खुशी कभी गम, तुम बिन, यादें, कल हो न हो, हम तुम, गरम मसाला, सलाम नमस्ते, लकी-नो टाइम फॉर लव, कृष, सोल्जर, जानेमन, कभी अलविदा ना कहना सरीखी ढेरों फिल्में बीते एक दशक में नजर आईं जिनमें एनआरआई प्यार की बयार जमकर बही। इन फिल्मों के नायक-नायिका भले एनआरआई हैं, फिर भी उनका दिल है हिंदुस्तानी। रहते भले वे लंदन, यूरोप या अमेरिका में हैं, प्यार हिंदुस्तान से करते हैं। उनके पहनावे, खान-पान, बोलचाल भले विदेशी हो, दिल देसी है। वे परिवार और विवाह संस्था को लेकर संवेदनशील हैं, वे ऐसे दिलवाले हैं जो अपनी प्रेयसी (दुल्हनिया) को भगाकर ले जाने की बजाय पिता (दुल्हनिया की) की मर्जी से डोली में बिठाकर ले जाने की वकालत करते नजर आते हैं। वे नायक-नायिका प्यार तो करते हैं मगर परिवार या विवाह संस्था से बगावत नहीं।

दिलवाले दुल्हनिया.... की सफलता ने बॉलीवुड में ऐसे एन.आर.आई नायक-नायिकाओं को जन्म दिया जिनकी देह परदेस में मगर आत्मा देस में बसती है।

परदेस को ही लें। अमेरिका के एक धनाढ्य भारतीय उद्योगपति (अमरीश पुरी) अपने इकलौते बेटे के लिए दुल्हन (महिमा चौधरी) ढूंढने भारत आते हैं। इन्हीं अमरीश पुरी ने दिलवाले.... में लंदन स्थित एक डिपार्टमेंटल स्टोर मालिक का किरदार निभाया है जिनकी बिटिया (काजोल) पली-बढ़ी लंदन में है, मगर बिटिया की सगाई उन्होंने पंजाब (भारत) के एक गांव में रहने वाले अपने जिगरी दोस्त के बेटे से तय कर रखी है। यह हुआ न देशप्रेम।

खैर, फिल्म परदेस के एक दिलचस्प प्रसंग की चर्चा यहां प्रासंगिक है। अमरीश पुरी बेटे के लिए दुल्हन ढूंढने भारत आए हैं.... कुछ लड़के एक नाटकीय घटनाक्रम के जरिये बताते हैं कि वे अमेरिका जाना चाहते हैं। तब अमरीश पुरी एक खूबसूरत गीत गाकर उन्हें समझाते हैं कि पूरी दुनिया देखी मगर दूसरा हिंदुस्तान नहीं मिला। हिंदुस्तान एक ही है और सारे जहां से अच्छा है। आई लव माई इंडिया!

सोल्जर का नायक (बॉबी देओल) अपनी नकचढ़ी एनआरआई प्रेमिका प्रिटी जिंटा से कहता है, 'मैं जानता हूं तुम हिंदुस्तानी हो और हिंदुस्तानी दिल आवारा नहीं होता। यह प्यार तो सारी दुनिया से करता है, मगर मरता किसी एक पर है।'

यह है एनआरआई या कहें परदेसी भारतीयों का देशप्रेम जो पिछले करीब एक दशक से बॉलीवुड के सर चढ़कर बोल रहा है, जिसकी एक अहम वजह यह है कि लंबे समय से अपने देश से दूर रह रहे अप्रवासी भारतीयों के अपने देश के प्रति नास्टेल्जिया भाव को तुष्ट करती हैं। उनकी यह तुष्टि बॉलीवुड निर्माताओं के लिए करोड़ों के वारे-न्यारे कर रही है। बताने की जरूरत नहीं कि आज अप्रवासी भारतीयों को केंद्र में रखकर बनी बॉलीवुड फिल्में विदेशों में जमकर पैसा कमा रही हैं। मिसाल के तौर पर करण जौहर की कभी अलविदा न कहना ने पूरे भारत में महज 22 करोड़ का व्यवसाय किया, जबकि विदेशों में इसने 32 करोड़ कमाए। ◆

लटके-झटके मगर जरा हटके

खालिस मनोरंजन परोसने वाली फिल्मों के बीच लीक से हटकर कुछ कहने की कोशिश पहले भी होती रही है लेकिन इधर कुछ सालों में ऐसी फिल्मों के तेवर और कलेवर में खासी तब्दीली आई है। अब ये फिल्में सत्तर के दशक की उन कला फिल्मों जैसी नहीं रहीं, जिसकी शुरुआत श्याम बेनेगल की फिल्म अंकुर से हुई थी और जिसे बाद में समांतर सिनेमा का पद मिला। मगर कड़वा सच है कि ये फिल्में मुंबइया व्यावसायिक सिनेमा, या कहें 'मेनस्ट्रीम सिनेमा' के समांतर खड़ी नहीं हो पाईं। ये फिल्में सरकारी सहयोग से निर्मित-प्रदर्शित होती थीं और फिल्मोत्सवों में मुफ्त में दिखाई जाती थीं। अब पटकथा और तकनीक ही नहीं, निर्माण से लेकर प्रदर्शन तक के तरीके बदल जाने से ऐसी फिल्मों को छोटे-बड़े बाजार नसीब होने लगे हैं जो कुछ 'हटके' कहती नजर आती हैं। बैंडिट क्वीन, माचिस, नसीम, आस्था, मृत्युदंड, दरम्यां, सरदारी बेगम, जख्म, हजार चौरासी की मां, गॉडमदर, भोपाल एक्सप्रेस, अस्तित्व, मानसून वेडिंग, चांदनी बार, सत्या, जुबैदा, राहुल, बवंडर, दमन, लाल सलाम, मुंबई मैटिनी, चमेली, अबतक छप्पन, रेनकोट, मीनाक्षी, मकबूल, पेज 3, ब्लैक, सरकार, हजारों ख्वाहिशें ऐसी, दंश, ओंकारा, कॉरपोरेट, काबुल एक्सप्रेस, खोसला का घोंसला, डोर, चिंगारी, ट्रैफिक सिगनल जैसी फिल्मों की आवक ने यथार्थवादी सिनेमा के जीवित रहने की उम्मीद को मरने नहीं दिया। टोटल फार्मूला फिल्में अब दर्शकों में विरक्ति पैदा करती हैं। यह बात विवाह फिल्म की सफलता के बाद सूरज बड़जात्या के जेहन में आ गई है।

अपनी पिछली फिल्म 'मैं प्रेम की दीवानी हूं' की विफलता से सबक लेकर वे 'विवाह' में अपने पुराने ट्रैक पर लौटे। मगर बिल्कुल नए अंदाज में। विवाह में उन्होंने रिश्ते के कुछ कोमल तारों को छेड़ने की कोशिश की थी जो दर्शको को उद्वेलित कर गई। आज आलम यह है कि ताजा प्रदर्शित तकरीबन आधा दर्जन फिल्में पारिवारिक संबंधों और तानेबाने को केंद्र में रख कर बुनी गई हैं। विषय के नएपन के साथ ऐसी फिल्में बनें तो एक बड़ा दर्शक वर्ग ऐसी फिल्मों का स्वागत करने को तैयार है। ◆

नए अंदाज के फिल्मकार उर्फ लीक छोड़कर तीन चले-शायर, शेर, सपूत

एक कहावत है लीक पकड़ कर सब चले, लीक छोड़कर तीन - शायर, सिंह, सूपत। यानी कि अनजाने रास्तों पर आगे बढ़ने का जोखिम शेर और सपूत के अलावा कलाकार (शायर) उठाता है। पिछले एक दशक में निर्देशकों की एक नई पौध उभरी है, जिनमें से कुछ तो, फलता के आजमाए हुए टोटकों को ही थोड़ी फेरबदल के साथ बार-बार आजमा रहे हैं तो कुछ लीक छोड़कर चलने का खतरा उठा रहे हैं। सन् 1995 की दीपावली से पहले आई दिल वाले दुल्हनियां ले जाएंगे से आदित्य चोपड़ा ने जो शुरुआत की उसे उन्होंने मोहब्बतें से आगे और बढ़ाया। पिता यश चोपड़ा के साम्राज्य का बतौर विस्तार सो अलग। दिल वाले..... में उनके सहायक निर्देशक रहे करण जौहर भी उनके लायक शिष्य साबित हुए और कुछ कुछ होता से कभी खुशी कभी गम तक उन्होंने अपने गुरू आदित्य की परंपरा को आगे बढ़ाया। फरेब से चर्चा में आए विक्रम भट्ट महेश भट्ट का अनुसरण करते रहे। महेश की तरह विक्रम भी विदेशी फिल्मों से कहानियां लेकर बड़ी ही सफाई से उन्हें देसी माहौल में ढालकर परोसते रहे हैं और अपने इस खेल में उन्हें सफलता भी मिली है। गुलाम, कसूर, राज, आवारा पागल दीवाना में विक्रम का जादू दर्शकों के सिर चढ़ कर बोला। मगर दूसरी तरफ संजय लीला भंसाली, रामगोपाल वर्मा और मधुर भंडारकर सरीखे फिल्मकार भी उभरे जिन्होंने जोखिम उठा कर भी रुपहले परदे पर वह बात कही जो वे कहना चाहते थे। भंसाली की देवदास और ब्लैक, रामगोपाल वर्मा की सत्या, रोड और कंपनी और मधुर की चांदनी बार और पेज 3 फिल्म निर्देशन के प्रति उनकी दृष्टि और जूनून को बखूबी समझा जा सकता है चांदनी बार में बारबालाओं के जीवन का संघर्ष और उनके अंतःसंसार का यथार्थ है। उनकी भावनाएं और ऐसे सपने भी दिखे जिन्हें टूट जाने की नियति तक जाना था। कोरिया की एक फिल्म शार्ट लाइफ में वेश्या की बेटी शून थी जो गूंगी है, बचपन से ही यौन कर्म के पेशे को जान गई है, अंतत वेश्या ही बनती है। गूंगी होने के कारण उसे अपना शरीर कई बार आधी कीमत पर ही बेचना पड़ता है। अपना परिवार शुरु करने का उसका सपना उसी तरह बिना पूरा हुए टूट जाता है जैसे उसकी मां का टूटा था। पेशागत यौन संबंध और अपने प्रेमी से बनाए जाने वाला यौन संबंध किस तरह भाव प्रवण और भावशून्य हुआ करता है इस सच को दिखाने के लिए फिल्म की निर्देशिका अन यूंग ली ने कुछ प्रतीकों का सहारा लिया है जैसे मधुर ने चांदनी बार में। यहां भी बारबालाओं की कुछ पेशेगत मजबूरियां हैं। आर्थिक रुप से निर्भर होने के कारण और परिवार के इसी पर परजीवी होने के कारण कोई परंपरागत नैतिक बहस नहीं उपस्थित हो पाती। सेक्स की दमित इच्छाओं को लेकर सभ्य समाज की कुंठा पर अच्छा व्यंग्य भी देखने को मिला। किसी भी परिवेश में जीवन का यथार्थ कुछ इसी तरह का है और अपनी जटिलताओं समेत सिनेमा के परदे पर व्यापक रुप से प्रकट भी होता रहा है।

जटिलताओं का ताना बाना आगे चलकर कई फिल्मों में देखने को मिला। वास्तव के महेश मांजरेकर, लगान के आशुतोष गोवारीकर, दिल चाहता है के फरहान अख्तर, मुन्नाभाई एमबीबीएस के राजकुमार हीरानी, साथिया के शाद अली, तुम बिन के अनुभव सिन्हा, अक्स के राकेश मेहरा, धूम वाले संजय गढ़वी, फना के कुणाल कोहली, मकबूल, ओंकारा के विशाल भारद्वाज जैसे ढेरों फिल्मकार हैं, जिनके पास दृष्टि हो और जिनके लिए फिल्म निर्देशन कला पहले व्यवसाय बाद में है।

वर्जनाएं टूटी-यह जिस्म प्यार नहीं जानता.... भूख जानता है, जिस्म की भूख।

हाल के बरसों में सिनेमाई पर्दे पर ऐसा काफी कुछ आया जिसे हाथ लगाना पहले 'टैबू' समझा जाता था। सन् 1996 में बैंडिट क्वीन ने पहली बाल चंबल के डाकुओं की जिंदगी को करीब से दिखाया। आस्था (1997)में सुखी संतुष्ट घरेलू स्त्री के सिर्फ कुछ ज्यादा कमाई करने के लिए शरीर बेचने का विषय उठाया गया। क्या कहना में कुंवारी मां की बात रही तो मर्डर, हवस जैसी फिल्में अतिव्यस्त पतियों की पत्नियों को दूसरे मर्दों से उलझते दिखाती रहीं। इस कड़ी में जिस्म को एक ट्रेंड ब्रेकर फिल्म के तौर पर देखा जा सकता है, जहां नायिका (बिपाशा बसु) का अपने पति या प्रेमी-किसी से कोई रागात्मक संबंध नहीं। पति या प्रेमी के अलावा भी जो पुरुष उसके जीवन में आते हैं, वह उनका इस्तेमाल करती है, क्योंकि बकौल नायिका यह जिस्म प्यार नहीं जानता....भूख जानता है, जिस्म की भूख।

सलाम नमस्ते, लिव इन रिलेशनशिप की बात कह गई तो कभी अलविदा न कहना परिवार तोड़ने को जायज ठहराती नजर आई। फायर जैसी फिल्मों ने समलैगिंक संबंधों पर रोशनी डाली और मर्दो की सत्ता को खुलेआम चुनौती दी तो पेज 3 ने समाज के कथित उच्च वर्ग की जिंदगियों के खोखलेपन की बात कही। भंडारकर की ही नयी फिल्म ट्रैफिक सिगनल ने फिर से एक ऐसी दुनिया के पात्रों का लगभग जमघट सा खड़ा कर दिया जो कुछ कटु मानवीय समस्याओं की ओर तीखा इशारा कर गए। महानगरों के ट्रैफिक सिगनल की एक अपनी दुनिया होती है लेकिन मुंबई शहर में यह सिगनल एक महादुनिया से हमारी पहचान कराता है। निर्देशक ने इस फिल्म के जरिए उपभोक्ता समाज की विकृतियों की ओर भी इशारा किया है।

◆

संगीत का बदला मिजाज

हालांकि फिल्म संगीत में मिठास का दरिया अनवरत बह रहा है मगर इधर कुछ नई धाराएं भी बहीं और कुछ नए सोते भी फूटे। मरहूम उस्ताद नुसरत फतेह अली खान के चलते सूफियाना शैली के गीतों को फिल्मों में जगह मिली और महेश भट्ट के बैनर से आई फिल्मों ने इस धारा को और विस्तार दिया जिनमें पाकिस्तानी, बांगलादेशी गायकों को खुलकर मौका दिया गया। क्लब म्यूजिक का प्रभाव बढ़ा और आइटम गीत नाम की चीज ने अपना साम्राज्य ही बना लिया। फिल्म की कहानी के ऊपर से छिड़के गए इस मसाले को लोगों ने चटखारे ले-लेकर चाटा। और तो और गुलजार जैसे प्रबुद्ध गीतकार भी 'कजरारे-कजरारे...' व 'बीड़ी जलाई ले...' जैसे आइटम नंबर लिखते पाए गए।

कॉरपोरेट कल्चर का विस्तार: बॉलीवुड को उद्योग का दर्जा मिलने और वित्तीय तथा बीमा कंपनियों के आगे आने से फिल्म निर्माण का पुराना ढर्रा बदला है। रामगोपाल वर्मा ने दूसरे निर्देशकों से अपने लिए धड़ाधड़ फिल्में बनवाईं तो देखा-देखी यश चोपड़ा, सुभाष घई, महेश भट्ट, विधु विनोद चोपड़ा, करण जौहर जैसे कई फिल्मकारों ने अपनी फिल्म निर्माण कंपनी को कारखाने में तब्दील कर दिया। कई बड़ी कंपनियां फिल्में बना रही है। रिलायंस तक इस मैदान में कूद चुकी है और मोजर बेयर भी आ पहुंची है।

मल्टीप्लेक्स क्रांति 1997 में दिल्ली के प्रिया सिनेमा के मालिक ने सिंगापुर की विलेज रोड शो कंपनी के साथ मिलकर प्रिया विलेज रोड शो (पी. वी. आर.) बनाई और बंद पड़े एक थिएटर को भारत के पहले मल्टीप्लेक्स में बदल डाला। एक ही छत तले एक से ज्यादा सिनेमाघर, थोड़ी-थोड़ी देर में शुरू होती फिल्में, चमक-दमक और तमीज-तहजीब से भरा लकदक मौहल, खाने-पीने और फिल्मों की महंगी टिकटों की यह दुनिया पैसे वाले दर्शकों को बेहद रास आई और नतीजा यह हुआ कि आज देश में बेशुमार मल्टीप्लेक्स खुल चुके हैं व खुल रहे हैं।

संजीदा अभिनेता बोमन ईरानी की बात पर यकीन करें तो उनकी फिल्म खोसला का घोंसला यदि आज से चार-पांच साल पहले प्रदर्शित होती तो शायद ही इतनी हिट हो पाती। बोमन का तर्क है — मल्टीपलेक्स थियेटर ने ऐसी फिल्मों को जीवनदान दिया है। पहले ऑफ बीट फिल्मों को बड़ी मुश्किल से थियेटर मिलते थे। मगर आज इस तरह की फिल्में धड़ल्ले से बन और बिक रही हैं। एक दिलचस्प बात और हुई है। अब इन्हें कोई आर्ट फिल्म या पैरेलल (समांतर) सिनेमा के नाम से संबोधित नहीं करता बल्कि इन्हें मल्टीपलेक्स सिनेमा का नया नाम मिला है। मल्टीपलेक्स ने इन्हें स्वीकार कर लिया है। आर्ट सिनेमा के नाम पर मुंह बिचकाने वाले पोपुलर सिनेमा के दर्शक भी खोसला का घोंसला, परजानिया जैसी फिल्में देखना पसंद कर रहा है। एक सच तो बहुत पुख्तगी से सामने आया है कि दर्शक हर उस फिल्म को स्वीकार करता है जिसमें तार्किक नयापन होता है। यही वजह है कि दर्शकों को करण जौहर का भव्य तमाशा कभी अलविदा ना कहना हजम नहीं हो पाता और शाहरुख खान की डॉन लुढ़कते-लुढ़कते हिट तक पहुंच जाती है। नयी पीढी को शायद यही पसंद है। मगर नए दौर के दर्शकों को पूरा दोष देना ठीक नहीं। रंग दे बसंती, लगे रहो मुन्ना भाई, गुरु जैसी फिल्मों में इस वर्ग की जो हिस्सेदारी रही है, उसके बाद कोई अनुत्तरित सवाल बचता ही नहीं सिर्फ उत्साह देखने को मिल रहा है। गांधीगिरी आज का सबसे लोकप्रिय जुमला बन चुका है। यह फिल्म निर्माण में बदलाव का संकेत है। पेचीदा बातें भी कबूल होने लगी हैं। फिल्मकारों को लगने लगा है कि गूढ बातों को ज्यादा सहज ढंग से कहने की कोशिश की जानी चाहिए। बढ़ती गई पायरेसी भी कभी-कभार वी. सी. आर. किराए पर लाकर घर में फिल्में देखने वाले मध्यवर्गीय दर्शक को इधर वीडियो से सी.डी. की आवक ने चकाचौंध कर दिया। 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के नारे ने एक बार फिर असर दिखाया और चीन के रास्ते आए सस्ते सी.डी. प्लेयरों ने घर-घर में पैठ बना ली। नतीजतन फिल्मों की पायरेसी बढ़ी और किसी नई फिल्म की सी.डी. सिनेमाघरों में प्रदर्शित होने के दिन ही या कभी उससे भी पहले दर्शकों तक पहुंचने लगीं। यह कहना गलत नहीं होगा कि पिछले 10-12 बरसों में बॉलीवुड में परदेसी दर्शकों और देसी मल्टीप्लेक्स के भरोसे चल रहा है।

◆

'निकट'

आस-पास विशेषांक-2

- 97 वर्षीय वयोवृद्ध साहित्यकार **विष्णु प्रभाकर** से बेबाक बात-चीत।
- अंक के विशिष्ट कहानीकार : **अरुण प्रकाश।**
- **अरुण प्रकाश** पर विशिष्ट सामग्री।

◆ कहानियां

मैत्रेयी पुष्पा, संतोष दीक्षित, मधु कांकरिया, सूरज पाल सिंह चौहान और गोविन्द उपाध्याय की कहानियां।

नेपाल से **कुमुद अधिकारी** की कहानी

◆ नई कलम

युवा लेखिका ज्योति की प्रकाशित होने वाली पहली कहानी : **गिरगिट**

◆ संस्मरण

कांतिकुमार जैन

◆ गीत

स्व. श्रीप्रकाश श्रीवास्तव

◆ कविताएं

अनामिका

◆ संपादकीय

समय से बात - 3 - कृष्णबिहारी